दिव्य वाणी

—————:o:—————

'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' 'वेद-वाणी'

अमृत के सारे पुत्रो इस सन्देश को सुनो।

'यदीयं सर्वा भगो वित्तेन पूर्णा किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्'

भगवान् यदि यह सारी पृथ्वी धन से भरी हुयी मिले तो भी मैं उस वस्तु से क्या करूं जो मुझे अमर नहीं बना सकती

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदहावेदीन्महती विनष्टिः। कठ-उपनिषद्।

यदि इसी जन्म में (उस आत्मा को) जान लिया तो ठीक है, नहीं तो भयानक नाश समझना चाहिये।

"प्राक् कथन"

प्रोफेसर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम० ए० के लिखे हुये दिव्य-दर्शन नामक पुस्तक को देखा। पुस्तक योगदर्शन में वर्णित योग सिद्धान्तों का सरल समन्वय है। लेखक ने पुस्तक में तर्कसिद्धान्त, आत्मसाक्षात्कार, उपनिषत्सिद्धान्त पर अनेक उपयोगी बातें लिखते हुये संक्षिप्त रीति से योग के सिद्धान्तों का वर्णन किया है। योग के दोनों बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनों की चर्चा करते हुये सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि दोनों के वर्णन के साथ पुस्तक को समाप्त किया है। पुस्तक ऐसे लोगों के लिये जो योग की क्रिया नहीं अपितु योग के सिद्धान्त जानना चाहते हैं, बड़े काम की है। योग की क्रियायें करने वालों के लिये भी, पुस्तक में अङ्कित विषयों का जान लेना उपयोगी होगा। उसकाल में तो जिसे आर्यों का प्राचीनकाल कहते हैं, योग का रोज़मर्रा के कार्यों में समावेश था। योग से शारीरिक, भौतिक, और आत्मिक नानाप्रकार की उन्नति होती है, और इसीलिये यह तीनों प्रकार की उन्नति का साधन समझकर काममें लाया जाता था। परन्तु आर्य्य-सभ्यता के ह्रास के साथ अन्य विद्याओं का लोप हुआ उसके साथ योग की क्रियाओं का भी ह्रास हुआ और कुछ समय पहले उस समय में जिसे जड़वाद (Materialism) का युग कहसक्ते हैं, योग एक निकम्मी वस्तु समझी जाने लगी थी। परन्तु उस काल के ह्रास होने पर अब फिर मनुष्यों की दृष्टि, योग की ओर होने लगी है। आर्य्यसमाज के प्रवर्तक

स्वामी दयानन्द सरस्वती की योगजिज्ञासा और उसकी प्राप्ति के द्वारा अलौकिक शक्तियों के प्राप्त कर लेने के क्रियात्मक दृश्य ने, योग की रुचि में सोने में सुहागे का काम किया। और प्रसन्नताकी वातहै कि अब देश विदेश सभी जगहमें योग के सिद्धान्त और क्रियायें मान्य दृष्टि से देखी जाने लगी हैं। ऐसे समय को इस पुस्तकके प्रकाशन के लिये, उचित काल ही कह सकतेहैं। जो लोग योगी वनकर योग के अन्तरङ्गसाधनों का अभ्यास नहीं करना चाहते उन के लिये भी योग केवहिरङ्ग साधन बड़े काम की चीज़ हैं। नहीं तो कम से कम शारीरिक उन्नति के लिये ही उन्हें योग के प्रारम्भिक अङ्गों का अभ्यास करना चाहिये। कुछेक लोगों की समझ में यह वात अब भी नहीं आती कि योग से शारीरिकोन्नति किस प्रकार होती है। परन्तु थोड़ा भी विचार करने से यह वात समझ में आसकती है, उदाहरण के लिये योग के पहले अंग यम ही को लेवें और उसमें भी आये हुये सव से पहले शब्द 'अहिंसा' पर विचार कीजिये। अहिंसा का पालन मन, वाणी और क्रिया तीनों के द्वारा हुआ करता है। जो पुरुष इस नियम का पालन नहीं करना और तीनों प्रकार के हिंसा की तो कथा ही क्या है उनमें से केवल मानसिक हिंसा करता हुआ अन्यों से ईर्ष्या द्वेषादि के भाव अपने हृदय में उत्पन्न करके उसी अवस्था में भोजन करता है तो चिकित्साशास्त्र वतलाता है कि उसे वह भोजन न पचेगा। वैद्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ माधवनिदान में यह वात लिखी है :—

ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥

(माधव निदान ६। ८)

जब भोजन न पचेगा तब कौन कह सकता है कि अहिंसा के सुनहरी नियम के पालन न करने से शारीरिकोन्नति हो सकती है। इसीप्रकार अहिंसा के बाद योग के पहले अङ्ग "यम" में आये अन्य नियमों सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह पर विचार किया जा सकता है। और विचार करने से इनमें से प्रत्येक शारीरिकोन्नति का साधन भी सिद्ध होगा। ऐसी हालत में केवल शारीरिकोन्नति चाहने वालों के लिये भी यह अनिवार्य्य है कि वह इन वहिरङ्ग साधनों की अवहेलना न कर सकें। वहिरङ्ग साधनों के सिवा अन्तरङ्गसाधनों में से धारणा का अभ्यास भी सांसारिकोन्नति के लिये आवश्यक है। धारणा से चित्त की एकाग्रता के सिवा स्मृति का भी विकाश होता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में असंदिग्ध कारण कार्य्य के लिये प्रयुक्त होते हुये देखा गया है। एक ब्राह्मणमें "आयुर्वै घृतम्" घृत को आयुवृद्धि का असंदिग्ध कारण समझकर आयु के अर्थ में प्रयोग किया गया है। इसीप्रकार धारणा स्मृति वृद्धिका कारण है और कारणभी असंदिग्ध है इसलिये धारणा शब्द ही स्मृति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। अमरीका के योगी आश्रम की रिपोर्ट में एक योगी का उल्लेख आया है कि उसने धारणा से स्मृति का असाधारण विकास किया था। रिपोर्ट में वर्णित है कि उस योगी को परीक्षा के लिये एक जनरल मरचेन्ट की दूकान

पर लेगये जहां एक बड़ी लम्बी पंक्ति अलमारियों की लगी हुयी थी। अलमारियों में नियमानुसार शीशे के किवाड़ थे जिनसे अलमारी में रक्खी हुई प्रत्येक वस्तु बाहर से दिखाई देती थी। योगी को कहा गया कि अलमारी में रक्खी प्रत्येक वस्तु पर दृष्टि डालं; उसने देखना शुरु किया और बराबर अन्त तक की अलमारियों को देख डाला। जब समस्त वस्तुयें देख डाली गईं तब उससे कहा गया कि जो चीज़ें तुमने देखी हैं उनका अलमारी वार विवरण लिखा दो। कुछेक पुरुषों को लिखने के लिये बिठला दिया गया। योगी ने आरम्भ से अन्त तक की एक-२ वस्तु के नाम लिखा दिये और जांच करने से वह सूची ठीक पाई गयी। इस प्रकार देख लिया गया कि योग के अंगों से मनुष्यों की कितनी उन्नति हो सकती है।

दिव्यदर्शन नामक पुस्तक में योग के प्रायः सभी सिद्धान्तों का अच्छी तरह वर्णन हुआ है। और इसी कारण पुस्तक बड़ी उपयोगी होगई है। यह आशा है कि अधिक से अधिक नरनारी पुस्तक से लाभ उठाने का प्रयत्न करंगे।

सीतापुर }
१४-११-२६ ई० } नारायण स्वामी

भूमिका।

"भारत वर्ष रोटी के लिये तड़फ रहा है ऐसे समय में उसे पेट भरने की आवश्यकता है न कि 'योग' की। उपनिषदों ने हमें बहुत सताया, हमारी यह दशा हो गयी अब और क्या चाहते हो'? यह आधुनिक समय की आवाज़ है। अपने विषय के लिये ऐसे रूखे शब्दों के साथ शायद किसी ही लेखक ने अपनी पुस्तक जनता के सामने प्रस्तुत की होगी। वर्तमान लेखक का विचार है कि उसकी पुस्तक के लिये जनता में बड़ा आकर्षण न होगा, किसी भी 'देश सम्बन्धी पुस्तक के लिये आज लोग दौड़ पड़ते हैं, इन सब बातों को अनुभव करते हुये भी उसने यह परिश्रम उठाया है क्योंकि उसका विश्वास है कि भारत को इस दीन अवस्था में भी अपनी। सब से बड़ी सम्पत्ति की रक्षा करना आवश्यक है। कल्पना कीजिये कि एक पूंजी वाला दिवालिया हो जावे, उसे 'रोटी' की भी कठिनता होने लगे परन्तु उसे पता हो कि उसके घरके एक कोने में हीरे और लाल गड़े हुये हैं जो कि किसी कारण से आज रोटी नहीं दे सकते परन्तु किसी दिन रोटी ही क्या सारे सुखों को देंगे। क्या उस मनुष्य का कर्तव्य नहीं कि दुःखित और दीन दशा में भी उस खजाने की रक्षा करे। वर्तमान लेखक का विश्वास है कि इस दीन भारत का और पतित आर्यजाति का बहुमूल्य ख़जाना संस्कृत साहित्य

और विशेष कर दार्शनिक साहित्य है और यह हमारा पवित्र कर्तव्य है कि कठिन से कठिन दशा में भी हम इसकी रक्षा करें। हमारी भूमि बिक जाय, हमारा देश परतन्त्र बना रहे परन्तु यदि उसे स्वतन्त्र करने में पार्थिव भूमि को और यहां के मकानों को दूसरों से छीन ने में हमने अपने इस ख़ज़ाने को नष्ट कर दिया तो हमारी गहरी हानि है। हमने पराधीनता के दिनों में अपने साहित्य को नष्ट होने से बचाया तो क्या स्वतन्त्रता के संघर्ष के समय में हमें उसकी रक्षा नहीं करनी चाहिये ? इस दृष्टि से आधुनिक समय में दार्शनिक चर्चा छेड़ने का औचित्य ही नहीं किन्तु उसकी बड़ी आवश्यकता है।

दूसरा बड़ा आक्षेप यह होगा कि योग विषय पर कुछ कहने का अधिकार किसी 'योगी' को ही है और लेखक उस दावे की कल्पना से भी हज़ारों कोस दूर है। योग सम्बन्धी क्रियाओं को सिखाना योगियों का ही कार्य है परन्तु योग सम्बन्धी विचारों को जनता में रखने के लिये योगी लोग कलम दवात नहीं उठाया करते। 'योग शास्त्र' भी महर्षि पतञ्जलि ने बैठकर न लिखा होगा किन्तु पढ़ाने की गुरुशिष्य परम्परा से ही हमें प्राप्त हुआ है। योग सम्बन्धी विचारों को प्रत्येक आदमी को पढ़ना चाहिये और उन्हें समझने का यत्न करना चाहिये यदि उसके अन्दर संस्कार होंगे तो वह जाग उठेंगे और उसकी योग क्रिया में प्रवृत्ति होगी। इस निबन्ध के लेखक का केवल यह प्रयत्न है कि संस्कृत साहित्य

के छिपे कोने में पड़े एक रत्न को प्रकाश में रख दिया जावे, कोई जौहरी होगा तो इस रत्न की परीक्षा होगी। ऐसी आत्मायें हो सकती हैं जिन्हें संस्कृत साहित्य अथवा योग शास्त्र पढ़ने का अवसर न मिला हो परन्तु उन के अन्दर योग सम्बन्धी छिपे संस्कार पड़े हों जो इस लेख के पढ़ने की तनिक सी रगड़ से भी चमक उठें। यदि लेखक के सारे प्रयत्न से एक आत्मा में भी प्रकाश की एक रेखा भी चमक सके तो वह अपने सारे परिश्रम को सफल समझेगा।

तीसरा एक और बात है जो लेखक के सामने है। आज हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं और विद्या के सर्वाङ्गों से परिपूर्ण करना चाहते हैं इस यत्न में हम दूसरी भाषाओं से अनुवाद करके हिन्दी में बहुत कुछ भर रहे हैं परन्तु यह कितना आवश्यक है कि संस्कृत साहित्य में जो कुछ है वह शीघ्र ही हिन्दी में आसके। हिन्दी संस्कृत भाषा की पुत्री है और माता की सम्पत्ति पुत्री को अवश्य मिलनी चाहिये। हम ऊपर कह चुके हैं कि संस्कृत साहित्य में दर्शन का सर्वोच्च स्थान हैं इस लिये दर्शनसम्बन्धी साहित्य को हिन्दी का कलेवर शीघ्र ही पहिनाना आवश्यक है। यह कार्य अनुवाद करने से उतना अच्छा नहीं चल सकता क्योंकि अनुवाद सरलता से समझने योग्य नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि संस्कृत दर्शन की पुस्तकें इस आशय से लिखी गयी हैं कि वे गुरुशिष्य परम्परा से पढ़ी पढ़ायी जावें, ऐसी पुस्तकों में जो कुछ बातें लिखी गयी हैं वे इस प्रकार

नहीं है कि पढ़ने वाले की स्वयं समझ में आती चली जावें। प्रत्युत उन्हें समझाने की आवश्यकता पड़ती है। सर्वसाधारण के पढ़ने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि एक विषय को लेकर उस पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखे जावें वैसा ही एक यह भी प्रयत्न है।

इन सब बातों के अतिरिक्त एक और बात विचारणीय है। इस समय हमारी सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता से संघर्ष है। हमारी आवश्यकता यह है कि 'नवीनता' को ग्रहण करते हुये 'प्राचीनता' को पुनरुज्जीवित करें। पुराने को नये समय में जीवित रखने का उपाय यही है कि पुराना नये में मिल जावे, इसलिये हमें आवश्यक है कि प्राचीन साहित्य के उच्च सिद्धान्तों को नये रूप में रक्खें। इस लेख को लेखक ने आधुनिक लेखनप्रणाली से लिखा है जिसमें क्रमशः एक विषय को विस्तार के साथ स्पष्ट किया गया है। हम ने यह यत्न किया है प्रत्येक बात इतनी स्पष्टता से लिखी जावे जिस से पढ़ने वालों की समझ में सुगमता से आ सके।

यहां पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि निबन्ध में योग का सम्पूर्ण विषय नहीं लिखा गया है और न लेखक उससे परिचित ही है। योग का साधनप्रकरण बहुत ही महत्वपूर्ण है लेखक को उसमें वैज्ञानिक और क्रमिक शृंखला दीखती है। आधुनिक समय की किसी वैज्ञानिक पुस्तक में जिस प्रकार क्रमपूर्वक एक के बाद दूसरी बात का वर्णन होता है उसी ढंगपर द्वितीयपादमें योगके साधनों का वर्णन है। हमको यह

भी बतलाया गया है कि योग के द्वितीय पाद में जिन साधनों का वर्णन है वह उन लोगों के लिये ही है जो संसार में डूबे हुये हैं और जिन में योग के संस्कार नहीं। इसलिये इस निबन्ध में हमने योगशास्त्र के द्वितीयपाद के सिद्धान्तों का ही विशेष विवेचन किया है साथ ही योग सम्बन्धी बहुत सी आवश्यक बातें लिखी हैं। निबन्ध के प्रारम्भिक दो परिच्छेद दर्शन शास्त्रसम्बन्धी हैं जो कि विषय से कुछ असम्बद्ध प्रतीत होंगे परन्तु उनका रखना इस लिये आवशयक जान पड़ा कि योग जैसे विषय में प्रवेश करने से पूर्व कुछ दार्शनिक दृष्टि आवश्यक है। उन दो परिच्छेदों में आत्मसत्ता सम्बन्धी दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त का सार निकाला गया है।

कुछ शब्द लेखक को अपने विषय में कहने हैं। उसे योगसम्बन्धी विचारों के समझने से एक विशेष आनन्द और शान्ति मिली है। सन्देहवाद और नास्तिकता के संशयों को 'योग' ही मिटा सकता है। लेखक जब पढ़ ही रहा था और छोटी ही आयु थी कि उसके जीवन पर सन्देहवाद ने असर किया। उसके वेसारे विचार जो धर्मवाद के रूपमें पुस्तकोंमें पढ़ेथे या गुरुओं से सुने थे एकही झटके में मिट गये; नास्तिकवाद की आवाज़ थी कि 'यदि कोई वस्तु आत्मा या ईश्वर के रूप में इस प्राकृतिक जगत् से परे है तो भी उसे हम न कभी जान सकते और न पा सकते हैं' सन्देह-वाद और नास्तिकता का समय ऐसे व्यक्ति के लिये जो अपने विचारों की सदा उधेड़ बुन करता रहता हो बड़ा टेढ़ा होता है, उस का चित्त प्रत्येक समय चञ्चल और डांवाडोल रहताहै

ऐसे समय में लेखक को प्रसिद्ध योगी प्रोफेसर सियाराम के दर्शन हुए, उनसे बहुत दिन तक वार्तालाप का यह फल हुआ कि उसे निश्चय हो गया कि योग ऐसा साधन है जिस से मनुष्य उस अद्भुत शक्ति आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इस एक घटना ने उसके जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों को बदल दिया। उसको नास्तिकता और सन्देह-वाद की लहरों से निकाल कर आस्तिकता और आत्मिकवाद के सुरम्यतट पर लाने का कार्य योग सम्बन्धी सिद्धान्तों के परिज्ञान से ही हुआ। तात्पर्य यह है कि जहां योग के अभ्यास से आत्मा का साक्षात्कार होता है वहां 'योग' की सच्चाई में दृढ़ विश्वास हो जाने पर मनुष्य की आस्तिकता को एक बड़ा ठिकाना मिल जाता है। यद्यपि यह पुस्तक योग का क्रियात्मक अभ्यास सिखाने का दावा नहीं करती तथापि इस पुस्तक के पढ़ने से यदि कुछ आत्माओं की योग में श्रद्धा जागृत हो गई हो तो लेखक अपने परिश्रम को अपनी योग्यता से अधिक फलीभूत समझेगा।

योग के सिद्धान्तों को अधिक से अधिक स्पष्टरूप में लाने में कोई कसर नहीं रक्खी गयी है। जिन लोगों को पुस्तक पढ़ने के पश्चात् योग में रुचि बढ़े उन्हें क्रियात्मक अभ्यास के लिये किसी योगाभ्यासी गुरू का सहारा लेना चाहिये।

धर्मेन्द्रनाथ।

विषय सूची

पृष्ठ

१	दिव्यवाणी	,,
२	भूमिका	,,
३	विषय सूची।	,,

दिव्य दर्शन

विषय-प्रवेश

प्रथम परिच्छेद

तर्कसिद्धान्त

१	तर्कप्रारंभ।	२
२	तर्कविकास।	३
३	दृश्यमान जगत् से परे	६
४	आत्मा के विषय में तर्क	८
५	आस्तिकवाद	९
६	नास्तिकवाद	११
७	आस्तिक नास्तिकवाद सङ्गम	१२
८	तर्क का अन्तिम शब्द	१३

द्वितीय परिच्छेद

आत्मसाक्षात्कार

१	आत्मिक प्यास	१५
२	तीन पद	१६
३	धर्म या Religion	१७

		पृष्ठ
४	भिन्न २ मार्ग	१८
५	कर्म, भक्ति ज्ञान	१६
६	उपासना या 'ध्यान'	२१
७	आत्म द्वैताद्वैत	२२
८	द्वैत पक्ष की प्रक्रिया	२३

तृतीय परिच्छेद

उपनिषदों का सिद्धान्त

१	उपनिषदों का महत्व	२४
२	उपनिषद् शब्दार्थ	२५
३	श्रेयस् और प्रेयस्	२५
४	आत्मविषयक सिद्धान्त	२७
५	उपनिषदों में आत्मद्वैताद्वैत	३०
६	आत्मसाक्षात्कार; उपनिषद् और योग	३१

चतुर्थ परिच्छेद

योग परिचय

१	योग शब्दार्थ	३४
२	योग की प्राचीनता	३६
३	योगशास्त्र	३६
४	योग का समय	३७
५	योग सम्बन्धी साहित्य	३७
६	योग और सांख्य	३८
७	दार्शनिक प्रक्रिया	३९

" ओ३म् "

दिव्य-दर्शन

अथवा

योगसिद्धान्त का सरल समन्वय ।

विषय--विवेचन

हमारी सब से बड़ी कठिनता यह है कि हमें प्रारम्भ में ही विषय परिचय हो सके; जब तक तर्क के गहरे विषयों तक हमारा प्रवेश नहीं होता, हम नहीं जान सकते कि 'योग' क्या है, इस लिये पुस्तक के प्रारम्भिक परिच्छेद में 'तर्क' या 'दर्शन-शास्त्र' की समस्याओं का वर्णन किया जायगा। परन्तु स्थूल-दृष्टि से विषय-परिचय देने के लिये इतना पर्याप्त होगा कि:—

मनुष्यबुद्धि हज़ारों वर्षों तक 'जीवन' और 'विश्व' के यथार्थ और अन्तिम रहस्य को समझने का यत्न करती रही है। जो कुछ हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियों से पता लगता है और जिसे हम 'इन्द्रियगोचर जगत्' (Phenomenal World or the World of Sense), कह सकते हैं; इससे परे कोई अन्य रहस्य वस्तुतत्व है या नहीं ? हैं तो उसका स्वरूप क्या है ? हमारी इन्द्रियें, वहां तक पहुंच नहीं सकती और हमारी बुद्धि जब इन्द्रि-गोचर पदार्थों से आगे बढ़ना चाहती है, वहां से टक्कर खाकर लौट आती है-अँधेरे में टटोलती है और व्यर्थ में कल्पनाशक्ति दौड़ाती है। हमारी बुद्धि की भी उन विषयों तक पहुंच नहीं

होती और नहीं हो सकती, इसका कारण भी स्पष्ट है। हमारी बुद्धि केवल उस 'वस्तुतत्व' (Matter) को ग्रहण कर सकती है जो उसे इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुआ है । इसलिये यदि कोई रहस्य इन्द्रियों का विषय नहीं तो वहां बुद्धि की भी गति नहीं हो सकती। अतएव इस भौतिक जगत् से परे के विषयों को समझने के लिये मनुष्य की बुद्धि ने केवल तर्क का सहारा लेकर जो कुछ यत्न किया वह प्रायः विफल ही रहा है। उन्हीं अनिन्द्रिगोचर रहस्यों को साक्षात् करने के लिये हमारे ऋषियों ने क्रियात्मक और नियमित यत्न किया था । हम 'विशेष साधना' के द्वारा उन रहस्यों में प्रवेश करने योग्य हो सकते हैं। उसी 'यत्न' या 'साधना' का नाम 'योग' है ('योग' उसका नाम क्यों है यह चतुर्थ परिच्छेद में बताया जायगा) हमें डर है कि हमारे शब्द पर्याप्त स्पष्ट नहीं हो सकते। परन्तु प्रारम्भ में इससे अधिक स्पष्ट लिखा भी नहीं जासकता। यह स्मरण रखना चाहिये कि सारे वैदिक तत्वज्ञान की कुंजी योग है। जीवन के परमरहस्य को समझने और उसकी अन्तिम समस्याओं को हल करने का साधन 'योग' है। ऋषियों ने हज़ारों वर्षों के लम्बे काल में सांसारिक जीवन और भोग से अलग रह कर यदि किसी 'तत्व' का पता चलाया तो वह 'योग' है। जहां मनुष्य की बुद्धि थक जाती है, कल्पना शक्ति व्यर्थ हो जाती है वहां-उन विषयों तक हमें 'योग, पहुचाता है। इस लिये श्रद्धासम्पन्न होकर हमें इस विषय में प्रवेश करना चाहिये।

प्रथम—परिच्छेद

तर्क—सिद्धान्त

१—तर्क—प्रारम्भ] मनुष्य के अन्दर प्रश्न उठता है 'यह संसार क्या है? मैं कौन हूं'? 'मैं इसमें कहां से आ गया' मेरा इससे क्या सम्बन्ध है, इस जगत् से परे क्या है? इन प्रश्नों के साथ मनुष्य के अन्दर दार्शनिक या तार्किक बुद्धि का प्रारम्भ होता है, आज तक का सारा तर्क केवल इन प्रश्नों के उत्तर का यत्न है। भिन्न २ दार्शनिक इन प्रश्नों को अनेक रूपों में विचारते रहे हैं और उनके भिन्न २ तर्कसिद्धान्तों से अनेक दार्शनिक वाद (Schools of Philosophy) आज तक बने हैं, सारे विज्ञान जिन्हें हम आज कल 'साइंस' नाम से कहते हैं। इस जीवन की आवश्यकता तथा ऐन्द्रियिक जगत् सम्बन्धी भिन्न २ विषयों पर विचार करते हैं, परन्तु दर्शनशास्त्र मौलिक प्रश्न उठाता है कि 'यह जीवन ही क्या है? और इस जीवन का क्या उद्देश्य है? इस लिये दर्शन शास्त्र हमारे जीवन के अन्तिम रहस्य को, उसकी असली सच्चाई को प्रकट करने का यत्न करता है अतएव सारे विषयों में तर्क का अध्ययन सबसे सूक्ष्म और आत्मा को ऊंचा उठाने वाला है।

२—तर्क—विकास] जब तक मनुष्य भूखा, प्यासा है सरदी-गरमी के दुःख में है या कोई और शारीरिक आवश्यकतायें उसे सता रही हैं वह केवल उन्हें दूर करने के यत्न में

रहता है, परन्तु जब उसकी आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती हैं वह स्वस्थचित्त होकर आंख खोल कर-मानसिक आंख; बुद्धिनेत्र खोलकर-विचारता है तो उसके सामने जीवन के मौलिक प्रश्न उपस्थित होते हैं और वह सोचने लगता, है कि जीवन का रहस्य क्या है ? वस्तुतः मनुष्य सांसारिक चिन्ताओं से दूर होने पर ही दार्शनिक विचार में लग सकता है। एक मनुष्य की साधारण शारीरिक आवश्यकताओं के पूरे होने पर उसके लिये दो मार्ग हैं, या तो वह शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करे शारीरिक भोगों में पड़ जाता है, उनमें सदा के लिये डूब जाता है और या वह संसार के भोगों को छोड़ कर जीवन के रहस्य पर विचार करने लगता है । हमारे पुराने ऋषि सांसारिक चहल पहल झगड़े बखेड़ों से अलग जङ्गलों में बैठ कर दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते थे। यह बात जातियों के विषय में भी ठीक है जब तक जातियें अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में लगी रहती हैं तथा जीवनसंघर्ष (Struggle of life) में फंसी होती है, उनमें दार्शनिक विकास नहीं होता परन्तु जब उन जातियों की प्रारम्भिक आवश्यकतायें पूर्ण हो जाती हैं उनमें प्राकृतिक सभ्यता का पूर्ण विकाश हो जाता है , और उन्हें जीवनरक्षा के लिये निरन्तर जीवनसंघर्ष में नहीं रहना पड़ता तभी उनमें दार्शनिक बुद्धि का विकास होता है । प्रो० मैकसमूलर ने ठीक लिखा है कि:—

'Philosophers arise after the security of a state

has been established, after wealth has been acquired and accumulated in certain families, after schools and universities have been founded and taste created for those literary persuits which even in the most advanced-state of civilisation must necessarily be confined to but a small portion of an ever toiling community.*

अर्थात् दार्शनिक तभी उत्पन्न होते हैं जब कि एक राष्ट्र की स्थिरता होजाती है, जब कि धन सम्पत्ति प्राप्त होकर परिवारों में संचित हो जाती है। जब स्कूल और विश्वविद्यालय स्थापित हो जाते हैं और दार्शनिक खोज के लिये रुचि, जो अत्यन्त उत्कृष्ट सभ्यता में भी केवल गिने-चुने मनुष्यों में पायी जाती है, उत्पन्न हो जाती है।

परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राकृतिक आवश्यकताओं के पूर्ण होने और प्राकृतिक सभ्यता के स्थापित होने पर भी दार्शनिक विकास तभी होता है जब कि जाति सांसारिक भोगों में नहीं पड़ जाती। आधुनिक पाश्चात्य जगत्—युरोप और अमेरिका—को अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये अत्यन्त परिश्रम और घोर संघर्ष करना पड़ताहै, क्योंकि वहां की प्राकृतिक अवस्था ही ऐसी है कि बिना घोर संघर्ष के उन्हें रोटी कपड़े नहीं मिल सकते, इसलिये वे देश प्राकृतिक दृष्टि से दार्शनिक विकास के लिये अधिक उपयुक्त नहीं। तिस पर भी सांसारिक

* Ancient Sanskrit Literature.

आवश्यकताओं के पूर्ण होने पर वहाँ के लोग शारीरिक भोग में डूब गये, इसलिये यह स्वाभाविक है कि पश्चिमी देशों की रुचि दार्शनिक समस्याओं की ओर न हो। प्राचीन भारतवर्ष में हमारे पूर्वज आर्यों की प्राकृतिक आवश्यकतायें बहुत थोड़े से परिश्रम से पूरी हो जाती थीं, इसके अतिरिक्त वे सांसारिक भोगों में भी नहीं पड़े थे। यही कारण है कि हिन्दुओं में दर्शनशास्त्र का सब से अधिक विकास हुआ। वे लोग भ्रम में हैं जो कहते हैं कि पुराने हिन्दू आलसी होते थे और पड़े २ दर्शनशास्त्र के काल्पनिक विषयों को सोचा करते थे। दर्शनशास्त्र का विकास प्राकृतिक सभ्यता की भी उच्च अवस्था को प्रकट करता है।

२—दृश्यमान जगत् से परे] तर्कशास्त्र का प्रथम प्रश्न है कि 'यह विश्व क्या है ?' इस दृश्यमान जगत् से परे कोई और सत्ता है या नहीं ? उससे हमारा क्या सम्बध है ? यह प्रश्नों का प्रश्न है ! इसके उत्तर में दर्शनशास्त्र या तर्क समाप्त हो जाता है।

'हम दृश्यमान् जगत् के भीतर बन्द हैं' यह दर्शनशास्त्र का पहिला सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि हमारा ज्ञान हमारी ज्ञानेन्द्रियों तक सीमित है, जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, सूंघते हैं, चखते हैं या स्पर्श करते हैं उसके सिवाय हमें और कोई ज्ञान नहीं होता—हो ही नहीं सकता। और वह सारा ज्ञान जो हमें इन्द्रियों से प्राप्त होता है हमारा दृश्यमानजगत् है। हम इस दृश्यमान जगत् से, अपनी इन्द्रियों के ज्ञान से

आगे नहीं पहुंच सकते। हमारा ज्ञान हमारी इन्द्रियों के ज्ञान तक सीमित है यहां तक कि हम दृश्यमान जगत् से परे किसी विषय को मन से भी नहीं सोच सकते। क्योंकि जो कुछ भी हम मन से सोचते हैं वह इन्द्रियों से प्राप्त दृश्यमान जगत् के विषय में ही होता है। इस प्रकार दृश्यमान जगत् से परे हमें हमारी इन्द्रियें नहीं ले जा सकती, क्योंकि–जो कुछ हम इन्द्रियों से जान रहे हैं वही हमारा दृश्यमान जगत् है, अब प्रश्न यह है कि - इस—

'दृश्यमान् जगत् के परे'

किसी अन्य पदार्थ की सत्ता है या नहीं? ऐसी हस्ती जिसका ज्ञान हमें इन्द्रियों से नहीं हो सकता। इस दृश्यमान जगत् के पीछे हो सकती है या नहीं? सारा मानव तर्क आज तक उसी अदृश्यमान सत्ता की उधेड़बुन में लगा रहा है। मनुष्यों ने उस का स्वीकार किया है,, निषेध किया है और फिर स्वीकार किया है। जब कभी मनुष्य की बुद्धि ने दृश्यमान जगत् से परे उस सत्ता को सोचना प्रारम्भ किया है वह अनेक भूलभुलैयों में पड़ गई है। मनुष्य के लिये उस सत्ता का चिन्तन करना भी बहुत कठिन है क्योंकि हमारे सारे विचार और शब्द भी दृश्यमान जगत् के सम्बन्धी हैं। इस लिये जिस शब्द से भी या जिस विचार से भी हम उस सत्ता को सोचना चाहते हैं हम अपने ऐन्द्रियिक जगत् या दृश्यमान जगत के भीतर ही बन्द रहते हैं और उस सत्ता तक पहुंचना हमारे लिये कठिन हो जाता है। दार्शनिक सम्प्रदाय ने उस सत्ता का नाम (आत्मा) रखा है, इस प्रकार ऐन्द्रियिक जगत् या

दृश्यमानजगत् से परे वे, आत्मिक जगत् को मानते हैं, जिसे वे 'यथार्थ जगत्' अन्तिम तत्व' (Noumenon or' Ultimate Reality) कहते हैं।

४ आत्मा के विषय में तर्क] यहां तक हमने बतलाया कि 'दृश्यमान जगत् से परे आत्मिक सत्ता है' इसका क्या अर्थ है। ऊपर हमने कहा है कि मानव तर्क के सामने यह प्रश्न है कि दृश्यमान जगत् से परे कोई आत्मिक सत्ता है या नहीं ? सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक मनुष्य इस पर विवाद और तर्क करते चले आये हैं। आत्मा के होने न होने में हज़ारों युक्तियें आज तक दी गई हैं। इन युक्तियों का खण्डन मण्डन तो दूर रहा, हम यहां उनका सम्पूर्ण उल्लेख भी नहीं कर सकते। हमारा प्रयोजन केवल यह दिखलाना है कि दार्शनिक बुद्धि आत्मा के विषय में आज तक किस परिणाम तक पहुंची है। युक्तियों पर विचार करना निस्सन्देह हमारे विषय के बाहर है।

सारा मानव तर्क दो सम्प्रदायों में विभक्त है, एक कहता है कि यद्यपि हमारी इन्द्रियें हमें ऐन्द्रियिक जगत् तक ही ले जाती है और दृश्यमान ऐन्द्रियिक जगत् से परे हमें किसी वस्तु की सत्ता का बोध नहीं होता परन्तु तो भी तर्क और हमारी सहजबुद्धि (Intuition) हमको बतलाती है कि इस ऐन्द्रियिक जगत् से परे इसकी ओझल में आत्मा की सत्ता है और प्राकृतिक जगत् से सूक्ष्मतर और अधिक यथार्थ आत्मिक जगत् है। दूसरे सम्प्रदाय का कहना है कि जब हमारे ज्ञान की साधन इन्द्रियें हमें प्रत्यक्ष दृश्य ऐन्द्रियिक-जगत् से

परे किसी वस्तु का पता नहीं देती तो कोई कारण नहीं कि हम उससे परे किसी और सत्ता की कल्पना करें। प्राकृतिक-जगत् से परे आत्मिक जगत् की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं, इस प्रकार आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले और न स्वीकार करने वाले दो सम्प्रदाय हैं।

५-आस्तिकवाद] अस्तिकवाद का इतिहास हमारे सामने एक विचित्र घटना उपस्थित करता है! मनुष्यों ने आत्मा या परमात्मा की ऐसी २ विचित्र कल्पनायें कर डाली कि जिन पर एक बालक भी हंसे बिना नहीं रह सकता। एक बार आत्मा की सत्ता मान कर फिर उन्होंने उसका मनमाना स्वरूप कल्पित कर लिया। कितने ही विचित्र रूपों से कल्पित देवी देवता परमात्मा समझे गये। यह आस्तिकवाद का अन्ध-विश्वासात्मक (Dogmatic Theism) रूप है, एक यूनानी कहानी है कि:-

एक बार जंगल में सारे पशुओं की बड़ी सभा इसलिये हुयी कि वह ईश्वर के स्वरूप पर विचार करें। खरगोश ने खड़े होकर कहा कि ईश्वर बहुत तेज़ दौड़ता होगा और उसके बड़े २ कान होंगे। हाथी ने कहा ऐसे कमज़ोर ईश्वर से क्या लाभ? यदि ईश्वर सबसे बड़ी शक्ति है तो उसके एक बड़ी सूंड होनी चाहिये जिससे वह सब कुछ कर सकता हो। सिंह ने यह तर्क किया कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो यह आवश्यक है कि पंजे और जबड़े बड़े मजबूत तथा पैने हों। और एकही थप्पड़ से बड़े से बड़े हाथी को गिरा सकता हो।

यह छोटीसी कहानी हमें यह बताती है कि परमात्मा के स्वरूप की कल्पना में मनुष्य पशुओं से बहुत आगे बढ़े हुये नहीं हैं, देवी, देवताओं की कल्पना करके मनुष्य ने भी अपने समान ही ईश्वर की कल्पना कर डाली है। देवता भी मनुष्य के समान रूप वाले, स्त्री, पुत्र, सवारी और घर आदि रखने वाले हैं। इसके आगे जिन लोगों ने ईश्वर को देवताओं से कुछ ऊंचा उठाकर कल्पित किया है उन्होंने भी उसे बहुत सी बातों में मनुष्य के समान ही कल्पित कर रक्खा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐन्द्रियिक जगत् से परे जिस आत्मा की कल्पना की थी उसे भी हम फिर ऐन्द्रियिक जगत् में लाकर रख देते हैं। अर्थात् परमात्मा की कल्पना करने में भी हम अपने ऐन्द्रियिक जगत् सम्बन्धी विचारों से आगे नहीं जाते और परमात्मा जिसकी हमने प्रकृति से पृथक् सत्ता मानी थी उसे भी हम प्राकृतिक बना देते हैं।

परन्तु जब आस्तिकवाद अपने अन्धविश्वासात्मक रूप को छोड़कर परीक्षणात्मक (Critical) बनता है तब पहिला सिद्धान्त यह होता है कि यद्यपि परमात्माकी सत्ता है पर उसे हम प्राकृतिक रूप में नही सोच सकते। 'वह है; और जो कुछ भी है वह प्रकृति नहीं है और उसके गुण, प्राकृतिक गुणों से भिन्न हैं। हम अपने ज्ञान में प्राकृतिक जगत् तक सीमित हैं। इस लिये हमें परमात्मा के स्वरूप का बोध नहीं हो सकता; जो कुछ हम परमात्मा के विषय में सोच सकते हैं वह इतना ही है कि वह है' परन्तु प्राकृतिक नहीं है। अर्थात् उसमें प्रकृति के गुण नहीं हैं। इस प्रकार हम ईश्वर के विषय में

हम जो कुछ भी कहते हैं वह निषेधात्मक (Negative) ही है—अर्थात् मरता नहीं है, मूर्त्ति नहीं है, जड़ नहीं है, इत्यादि प्रकार से हम प्रकृति के ही गुणों का उसमें निषेध करते हैं। उसका अपना निज गुण (Positiue Attribute) हम कोई भी नहीं सोच या समझ सकते। यहां तक कि जब हम कहते हैं कि ईश्वर आनन्द स्वरूप है; तब हम ईश्वर के गुण 'आनन्द' की कल्पना या तनिक सी भावना भी नहीं कर सकते कि वह क्या और किस प्रकार का हो सकता है। इसीलिये उपनिषदों में 'नेति-नेति' अन्तिम तत्व बतलाया है। जिसका मतलब यही है कि ईश्वर के विषय में हम इतना ही जान सकते हैं कि 'वह ऐसा नहीं है', 'ऐसा नहीं है'। इस प्रकार आस्तिकवाद का अन्तिम निचोड़ यह है कि:—

(१) परमात्मा की सत्ता है

परन्तु (२) उसके स्वरूप को हम नहीं सोच सकते क्योंकि हम जो कुछ भी सोचेंगे वह प्राकृतिक धर्म ही होगा।

६ नास्तिकवाद] नास्तिकवाद के विषय में हम केवल यह कहेंगे कि वह तीन अवस्थाओं में से होकर निकला है और उसका अन्तिम रूप आस्तिकवाद के साथ एक हो जाता है ये तीन अवस्थायें यह हैं:—

(i) परमात्मा नहीं है।

(ii) नहीं जानते कि परमात्मा है या नहीं?

(iii) परमात्मा हो भी तो हम उसका स्वरूप नहीं जानते।

(१) इन में से पहिला सिद्धान्त कि परमात्मा नहीं है अन्धविश्वासात्मक नास्तिकवाद (Dogmatia theism) है, आज कल कोई ही ऐसा वैज्ञानिक होगा जो इसे स्वीकार करता हो।

(२) नास्तिकवाद का दूसरा रूप अज्ञेयवाद है, इस का सिद्धान्त यह है कि हम दोनों बातों में से एक भी निश्चय नहीं कर सकते, न तो हम यह हा कह सकते हैं कि परमात्मा है कि और न हम यह सकते हैं कि वह नहीं।

(३) नास्तिकवाद अपने तीसरे रूप में आस्तिकवाद के समीप आ जाता है, इसे भी हम एक प्रकार से अज्ञेयवाद कह सकते हैं पाश्चात्य तर्क में इसे हम काएट का आज्ञेयवाद (Kantian Agnosticism) कहेंगे। उपनिषदों में बहुधा यह कहा गया है कि यदि परमात्मा है तो भी हम उसके स्वरूप को नहीं सोच सकते।

७-आस्तिक-नास्तिकवाद सङ्गम] इस प्रकार अन्तिम परिणाम पर पहुंच कर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद एक हो जाते हैं, अन्तिम रूप में आकर उन दोनों के सिद्धान्तों का सङ्गम हो जाता है। नास्तिक भी इस बात को मानने के लिये बाधित होते हैं कि इस दृश्यमान जगत् से परे कोई सत्ता अवश्य है। उनकी नास्तिकता केवल इस बात में रह जाती है कि हम उस सत्ता का स्वरुप नहीं जान सकते। परीक्षात्मक या बुद्धियुक्त नास्तिकता (Critical or Rational ctheism) यही है। यह कहना कि 'ईश्वर नहीं है' अन्धविश्वासात्मक नास्तिकता (Dogmatic etheism) है और आज

फल इस प्रकार का नास्तिक कोई वैज्ञानिक नहीं, इसी प्रकार आस्तिक लोग भी अपनी अन्धविश्वास कीकल्पनाओं को छोड़ कर इसी विश्वास तक पहुंचे हैं कि 'परमात्मा है अवश्य, परन्तु हम उसके स्वरूप को नहीं जान सकते', यह कहना कि हम ईश्वर के स्वरूप को भी जान सकते हैं मूर्खता का चिन्ह है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में तो 'नेति २' अर्थात् हम कुछ नहीं जानते यही अन्तिम तत्व है, इस प्रकार आत्मा या परमात्मा की सत्ता के विषय में बुद्धि युक्त (Rational) नास्तिकवाद और आस्तिकवाद एक ही सिद्धान्त पर स्थित हैं और वह यह है कि:—

प्राकृतिक जगत् से परे आत्मा की सत्ता है परन्तु उसके स्वरूप को हमारी बुद्धि अनुभव नहीं कर सकती ।

८-तर्क का अन्तिम शब्द] इस प्रकार मनुष्य की खोज आज तक अनेक भूलभुलैय्योंमें पड़ती हुयी अनेक कल्पनाओंको टटोलती हुयी आज तक जिस परिणाम पहुंची है और जिस अन्तिम सिद्धान्त को कह कर वह चुप हो जाती है वह यहीहै कि ' इस प्राकृतिक जगत् से परे जहाँ हमारी इन्द्रियें नहीं पहुंचती। एक और सत्ता है, जिसका स्वरूप हम नहीं जान सकते क्योंकि हमारी बुद्धि, हमारी सारी ज्ञानशक्ति प्राकृतिक जगत् की सीमा के भीतर बन्द है, उसके आगे वह नहीं पहुंच सकती। हमारी कल्पना शक्तिभी हम चाहे कितना ही यत्नकरें दृश्यमान जगत् की सीमा से ऊपर नहीं उड़ सकती, पर हम जानते हैं और मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि कहती है कि इस

प्राकृतिक जगत् से परे कोई सत्ता है परन्तु जब हम उस सत्ता का स्वरूप विचारने का यत्न करते हैं तब हम फिर दृश्यमान जगत् में लौट आते हैं क्योंकि हम दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त किसी स्वरूप की कल्पना ही नहीं कर सकते हमारी ज्ञानशक्ति ही इस प्रकार की बनी है कि हम प्राकृतिक या दृश्यमान जगत् तक ही सोच सकते हैं। इस प्रकार सारे मानव तर्क का अन्तिम शब्द यह है कि:

दृश्यमान जगत्से परे कोई सत्ता है जिसके स्वरूप को हमारी बुद्धि नहीं सोच सकती॥ हमारी बुद्धि केवल इतना कहती है कि दृश्यमान जगत् से परे कोई सत्ता है।

द्वितीय परिच्छेद

———:o:———

तर्क से आगे, आत्मसाक्षात्कार।

१ आत्मिक प्यास] तर्क यह कह कर चुप हो गया कि इस दृश्यमान जगत् से परे एक सत्ता है उस सत्ता के स्वरूप के विषय में तर्क कुछ नहीं कहता, बुद्धि उसके स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकती। इसलिये क्या मनुष्य को सन्तुष्ट हो जाना चाहिये और उस सत्ता की खोज निराश हो कर छोड़ देनी चाहिये जो इस विश्व की असलियत है जिसमें इस जगत् का रहस्य भरा है? दर्शनशास्त्र या हमारी बुद्धि हमें उस अदृश्य शक्ति तक पहुंचा नहीं सकती। और मनुष्य उसकी खोज किये बिना चुप नहीं बैठ सकता। वह उस शक्ति की भावना करने लगता है उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगता है।

'मैं उस आत्मा को कैसे जानूं, कैसे उसका साक्षात् करूं, कैसे उसके सामने पहुंचूं, उसके स्वरूप को कैसे देखूं' इत्यादि भावनायें तत्त्वदर्शी के अन्दर उठने लगती हैं वह बेचैन और अधीर हो जाता है और आत्म-दर्शन की उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है, यह न बुझने वाली प्यास, न मिटने वाली भूंख, उसे हैरान कर देती है, वह मनुष्य कस्तूरीमृग की तरह जो अपनी नाभि में रक्खी हुयी कस्तूरी के लिये चारों ओर दौड़ता फिरता है व्याकुल हो आत्मा की खोज में भटकता फिरता है।

जब तक आत्मा की सत्ता पर विचार था हम 'तर्क' या दर्शनशास्त्र की सीमा के अन्दर थे किन्तु जब शुष्क विचार और तर्कवाद को छोड़ कर हम आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना चाहते हैं, हम दर्शन की सीमा से आगे निकल जाते हैं उस समय तर्क की चाहरदीवारी से बाहर पैर रखते हैं। तर्क तो हमें निराशाजनक संवाद सुनाती है कि 'तुम इस बुद्धि से आत्मा का साक्षात् स्वरूप देख ही नहीं सकते क्योंकि तुम्हारी सारी बुद्धिशक्ति इस दृश्यमान जगत् तक सीमित है,'

तर्क की इस निराशाजनक आवाज़ को सुन कर भी मनुष्य की आशा बनी रहती है, उसके अन्दर स्वभाव से यह विश्वास होता है कि 'यदि इस विश्व के भीतर बाहर कहीं कोई आत्मशक्ति है तो मैं उसे पा लूंगा, उसका साक्षात् दर्शन करूंगा।

२-तीन पद] मनुष्य के जीवन में तीन पद पाये जाते हैं:—

(१) उपदेश श्रवण।

(२) मनन।

(३) साक्षात्कार।

उपनिषद् कहती है:—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

अर्थात् आत्मा का दर्शन करना चाहिये, किस प्रकार? उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन अर्थात् साक्षात्कार करना चाहिये। इस पर विज्ञानभिक्षु ने लिखा है:—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः
मत्वा च सततं ध्येय इतीमे दर्शन हेतवः

अर्थात् श्रुति वाक्यों से श्रवण करना चाहिये, तर्क से मनन करना चाहिये और मनन करके ध्यान (योग की प्रणाली से साक्षात्कार) करना चाहिये; इन तीनों पदों में से पहिला पदः—

उपदेश श्रवण, (Dogmatization) है, इसका प्रयोजन यह है कि हम पहिले किसी भी विषय में अन्य गुरु आदि से सुन कर ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, जैसा वे हमें पढ़ाते हैं वैसा हम मान लेते हैं। आत्मा के विषय में हमें सब बातों का ज्ञान वेद से होता है।

दूसरा पदः—

मनन अर्थात् Philosophization है; यह तर्क की अवस्था है, इस अवस्था में जो कुछ हमने उपदेश रूपसे सुना है उसकी हम तर्क और बुद्धि से परीक्षा करते हैं। दूसरे परिच्छेद में हमने आत्मा के विषय में तर्क और उसके परिणामों का वर्णन किया है।

तीसरा पदः—

साक्षात्कार अर्थात् Realization है; जिन बातों को हमने तर्क से जाना हैं उनका हम साक्षात् करना चाहते हैं।

३ धर्म या Religion] जिस समय आत्मा के साक्षात् करने के लिये हमारे अन्दर प्यास पैदा हो जाती है हम मनन से आगे बढ़ कर तीसरे पद में पहुंचते हैं। यह तर्क का विषय

नहीं,तर्क का काम केवल विचार करना है परन्तु जब हम विचार करने से आगे बढ़ कर साक्षात्कार करना चाहते हैं, तब हम तर्क से आगे 'धर्म' (Religion) के क्षेत्र में पहुंचते हैं। जो बातें दर्शन शास्त्र में केवल मनन की जाती हैं उन्हीं को हम धर्म या मज़हब में अनुभव द्वारा चरितार्थ करते हैं। तर्क के अध्ययन में हम प्राकृतिक जगत् से परे आत्मिक जगत् का केवल विचार करते हैं परन्तु 'धर्म' 'Religion' द्वारा हम आत्मिक जगत् सम्बन्धी विचारों को चरितार्थ करना चाहते हैं, हम जिस प्रकार आत्मा को पा सकें उस का उपाय करते हैं। धर्म या मज़हब का सब से बड़ा काम 'उस अदृश्य शक्ति के साक्षात् करने का उपाय बताना ही है' इस लिये 'धर्म' की इससे अच्छी परिभाषा नहीं हो सकती कि 'धर्म' दर्शनशास्त्र को चरितार्थ करने नाम का है'

"Religon is the Realization of Philosophy" जहां दर्शनशास्त्र का क्षेत्र समाप्त होता है वहां से 'धर्म' या मज़हब का क्षेत्र प्रारंभ होता है।

४ भिन्न २ मार्ग] संसार के किसी धर्म को ले लें, यहाँ तक कि जङ्गली से जङ्गली जातियों के धर्म को ले लें, उसमें दो बातें अवश्य पायी जांयगी:—

(१) किसी अदृष्ट शक्ति में विश्वास।

(२) उसकी प्राप्ति का उपाय।

चाहे यह दोनों बातें कितने ही भद्दे रूप हों कितनी ही मूर्खता भरी क्यों न हों परन्तु प्रत्येक धर्म को देखने से इन दो बातों का पता अवश्य चलता है; हमने पहिले बतलाया है

कि आत्मा के विचार में अन्धविश्वासी आस्तिकों ने अत्यन्त मूर्खता भरी बातों को मान लिया था । उनकी आत्मा के सम्बन्ध की बातें पशुओं से बढ़ कर न थीं; जैसा कि हमने यूनानी कहानी से बतलाया था । आत्मा की प्राप्ति के विषय में तो उस से भी बढ़ कर मूर्ख विचार पाये जाते हैं । अदृष्ट शक्ति, जिसे परमात्मा, ईश्वर या अभीष्ट देवता आदि कुछ नाम दिया जाता है उसे कैसे पा सकते हैं, इस विषय में मनुष्य नें तरह २ की कल्पनायें कर डालीं । मूर्तिपूजा, भूत-प्रेत पूजा, या किन्हीं प्रकार खास संस्कारों के करने से या विशेष स्थानों पर जिन्हें तीर्थ कहा जाता है जाने से हमें अभीष्ट देवता मिल जायगा, इत्यादि कल्पनायें की गयीं। यहां तक कि सभ्य मज़हबों की कल्पनायें भी कुछ इसी प्रकार की हैं । किसी विशेष आदमी की सहायता से जिसे पैगम्बर कहा जाता है, मरनें के बाद ईश्वर हमें मिल जायगा । यह कल्पना भी जंगली जातियों से कुछ अधिक ऊंची नहीं है। हमें उन सब कल्पनाओं पर विचार करना नहीं चाहते । केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब बहुत से मज़हबों में हमें आत्मसत्ता सम्बन्धी दार्शनिक विचार की भी उच्चता नहीं पायी जाती है तब आत्मप्राप्ति सम्बन्धी उनके बताये उपायों का हास्यजनक होना स्वाभाविक ही है ।

५ कर्म-भक्ति-ज्ञान] वैदिक धर्म आत्मप्राप्ति के लिये तीन उपाय हमारे सामने रखता है जो क्रमशः

१—कर्म मार्ग

२—भक्ति मार्ग

३—ज्ञान मार्ग

कहलाते हैं। ध्यान से देखने पर पता चलता है कि मनुष्य की मानसिक शक्तियां भी तीन ही हैं अर्थात्

ज्ञान (Knowing)

भावना (Feeling)

कर्म (Doing or Willing)

ये तीन शक्तियां कर्म भक्ति और ज्ञान है क्योंकि भक्ति एक प्रकार की भावना (Feeling) ही है।

कर्ममार्ग] कहता है कि हम निष्काम कर्म करते हुये अर्थात् आदर्श सदाचार का जीवन व्यतीत करते हुये उस अदृष्ट शक्ति को प्रसन्न कर उसका दर्शन कर सकते हैं। अथवा निष्काम कर्म के द्वारा हम जन्म मरण के चक्र से छूट कर 'अदृष्टशक्ति' का साक्षात् कर सकते हैं, और अपने जीवन के उद्देश्य को पूरा कर सकते हैं। हम- इस प्रश्न को नहीं उठाते कि कर्म क्या है?

बुद्ध ने सदाचार को ही कर्ममार्ग के लिये आवश्यक बतलाया जहां कि पुराने याज्ञिकों ने कर्मकाण्ड सम्बन्धी बहुत से संस्कारों पर ही ज़ोर दिया था।

भक्तिमार्ग] उस अदृष्ट शक्ति को अपना 'प्रियतम' समझ कर उसमें भावना, निष्ठा और भक्ति करना हमें भक्ति मार्ग सिखाता है। हम अपनी भावना और प्रेम को अधिक और अधिक करते चले जांय यहां तक कि अन्त में भक्तवत्सल प्रभु का हमें साक्षात्कार हो जायगा। इसके प्रसिद्ध समर्थक गौरांग चैतन्य महाप्रभु तथा कबीर आदि हुये हैं।

ज्ञान मार्ग] तीसरा ज्ञानमार्ग तार्किकों का है वे लोग कहते हैं कि जिस समय विचार करते २ हमें प्राकृतिक जगत् से परे परमात्मा का पूरा २ बोध हो जायगा उसी समय आत्मसाक्षात्कार भी हो जायगा, वेदान्त इस ज्ञानमार्ग का ही विशेष कर आश्रय करता है। जहाँ पहिला मार्ग मनुष्य की कर्म शक्ति का विकास चाहता है और दूसरा भावना (Emotions) पर जोर देता है यह मार्ग तीसरी शक्ति अर्थात् ज्ञान को बढ़ाना चाहता है।

भारत में इन तीनों मार्गों को लेकर अनेक सम्प्रदाय खड़े हुये हैं। जिनका परस्पर बहुत सा वादविवाद है।

६ उपासना या, ध्यान] यह बात मानी हुई है कि आत्म प्राप्ति के जितने उपाय हैं उन में 'ध्यान' [जिसे अँग्रेजी में Meditation कहा जाता है (यद्यपि ध्यान के लिये Maditation शब्द पर्याप्त नहीं है जैसा कि ५ वें परिच्छेद में पता चलेगा] आत्म प्राप्ति का सर्वोच्च उपाय है। यदि हमें उस अदृष्ट शक्ति की किसी प्रकार प्राप्ति अर्थात् उसका साक्षात्कार हो सकता है तो उसका रास्ता हमारे ध्यान के द्वारा ही हो सकता है; हम किसी न किसी प्रकार ध्यान करने से ही उस शक्ति का चिन्तन कर सकते हैं परन्तु यहां एक शङ्का उत्पन्न होती है और वह यह कि हम अपने ध्यान या विचार में दृश्यमान जगत् से आगे नहीं जा सकते फिर उस अदृष्टशक्ति का ध्यान कैसे हो सकता है? बस यही गांठ है जिसे योग खोलना चाहता है, 'योग' वह मार्ग है जिस से हम प्राकृत जगत् से परे उस अदृष्टशक्ति का भी चिन्तन कर

सकते हैं । योग का ध्यान किस प्रकार का है इसका उत्तर अगले परिच्छेदों में होगा। यहाँ हम इतना कहना चाहते हैं कि इसी ध्यान का नाम 'उपासना' है उपासना का अर्थ (उप = समीप, आसन = बैठना) समीप बैठना है, उपासना में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय है अर्थात् उपासक को इन तीनों का आश्रय करना पड़ता है। उपासना एक कर्म है परन्तु उसमें ज्ञान आवश्यक है और भक्ति उसे दृढ़ बनाती है। या यों कहना चाहिये कि 'कर्म' उपासना का शरीर है ज्ञान उसकी आत्मा और भक्ति उस का जीवन है।

७ आत्मद्वैताद्वैत] यहाँ एक शङ्का आवश्यक रूप से उठेगी और वह यह कि हमने प्राकृतिक जगत् से परे अदृष्ट शक्ति का वर्णन किया है जिसे 'आत्मा' कहा गया है, वह क्या एक है जो कि सम्पूर्ण विश्व की आत्मा है और उसका हमारी व्यक्ति से क्या सम्बन्ध है? हमारी व्यक्तिगत आत्मायें क्या उसी का प्रकाश हैं या उसी का रूप हैं अथवा विश्वात्मा से भिन्न हमारी व्यक्तिगत आत्माओं की अलग सत्ता है जो कि प्राकृतिक जगत् से अतिरिक्त हैं। वस्तुतः आत्मा के द्वैत और अद्वैत का प्रश्न इतना गहरा है कि यहां उसमें न घुसना ही अच्छा है अन्यथा डूबने का डर है। उन सम्प्रदायों का नाम-निर्देश करना भी कठिन है और व्यर्थ भी है जो इस प्रश्न को लेकर भिन्न २ विचार करते चले आये हैं। परन्तु फिर भी यहां दो मोटे भेदों को स्पष्ट करना आवश्यक है, अद्वैतवादियों का विचार है कि एक अद्वैत विश्वात्मा परब्रह्म है और वही हमारी आत्मा भी है। अविद्या या अज्ञान के कारण अद्वैत

ब्रह्म में पृथक् २ व्यक्तित्व का भान होता है, दूसरा द्वैतवाद है जो कहता है कि विश्वात्मा के अतिरिक्त हमारी अलग २ व्यक्तिगत आत्मायें हैं जिन की स्वतन्त्र और नित्य पृथक् सत्ता है। बस आत्माके विषय में अद्वैत और द्वैत सिद्धान्तों का यही सार है।

८ द्वैतपक्ष की प्रक्रिया] जो लोग अद्वैतवादी हैं वे कहते हैं कि हमें जब अदृष्टशक्ति या परब्रह्म का साक्षात् होता है तो हमारा उद्देश्य कृतकृत्य या सफल होजाता है क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप भी परब्रह्म ही है और इस प्रकार हम अपने यथार्थ 'स्वरूप को चरितार्थ कर लेते हैं। द्वैतवादियों की प्रक्रिया यह है कि हमें पहिले। अपने आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये क्योंकि हमारा आत्मा भी इस प्राकृत जगत् के अतिरिक्त है। और जब हम अपना साक्षात् कर लेंगे तो हमें विश्वात्मा या परमात्मा का जो हमारी आत्मा से भी सूक्ष्म है साक्षात्कार हो सकेगा। परमात्मा को जानने के लिये यह आवश्यक है कि पहिले हम अपनी आत्मा को जानें। द्वैतवादियों की इस प्रक्रिया की विशेष व्याख्या हम अगले परिच्छेद—उपनिषत्प्रकरण में करेंगे।

तृतीय परिच्छेद ।

उपनिषत्सिध्दान्त ।

१ उपनिषदों का महत्त्व] पिछले परिच्छेद में हम जहां तक पहुंच चुके हैं, उसके आगे हमारे लिये अवसर है कि अब हम योग के मुख्य विषय पर आजावें, परन्तु उससे पहिले कुछ शब्द उपनिषदों के विषय में लिखना आवश्यक हैं । मनुष्य जाति ने अपने लम्बे इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण यदि कोई चीज़ अपने दिमाग से पैदा की है तो वह उपनिषद् है । हजारों वर्षों तक हमारे ऋषियों ने सांसारिक भोग विलास और चहलपहल से अलग कर अपनी तपश्चर्या और ध्यान से जो कुछ रहस्य समझा था वह उपनिषदों में वर्णित है । इस में तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि सृष्टि के प्रारंभ से आज तक मनुष्य के दिमाग ने उपनिषदों से बढ़ कर ऊंचा और रहस्यपूर्ण कोई विषय नहीं सोचा है । संसार के पुस्तकालय के किसी अन्य ग्रन्थ में आत्मा का इतना विस्तृत और गहरा निरूपण नहीं पाया जाता । उपनिषदों के विषय में जर्मन दार्शनिक शोपनहार की यह उक्ति अमर हो गयी है कि 'उपनिषदों ने मुझे जीवन में शान्ति दी है और उपनिषद् ही मुझे अन्त समय में शान्ति देने वाली होंगी ।

२ उपनिषद् शब्दार्थ] उपनिषद् का शब्दार्थ है (उप=समीप, निषद्=बैठना) समीप बैठना, अर्थात् आत्मा के पास बैठना—उस अदृश्य शक्ति के सामने होना या उसका साक्षात्कार करना। इसी प्रकार 'करण' में प्रत्यय करने से यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा हम आत्मा का साक्षात्कार करें उस विद्या का नाम 'उपनिषद्' है। किन्हीं ग्रन्थविशेषों का नाम ही उपनिषद् नहीं। कोई लोग 'समीप बैठने' से यह भी तात्पर्य लेते हैं कि गुरु के समीप बैठ कर ही सीखी जावे, वह विद्या उपनिषद् है अर्थात् अध्यात्मविद्या गुरु के चरणों में बैठ कर ही सीखी जाती है। शब्दार्थ से यह स्पष्ट है कि उपनिषद् और उपासना का एक ही शब्दार्थ—समीप बैठना है। इस प्रकार उपासना या ध्यान ही उपनिषदों का मुख्य विषय है। हमें इस दृश्यमान जगत् से अध्यात्म जगत् की ओर ले जाने का एक बड़ा साधन उपनिषदों का पाठ है।

३ श्रेयस् और प्रेयस्] उपनिषदों ने अध्यात्ममार्ग और सांसारिक भोग मार्ग को अलग २ बतलाने के लिये 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' शब्द का प्रयोग किया है जिनका अर्थ एक कथा द्वारा 'कठ' उपनिषद् ने स्पष्ट किया है:—

नचिकेता ब्रह्मविद्या का रहस्य जानने लिये 'मृत्यु' नामक ऋषि के आश्रम पर गया, वहां ऋषि के अनुपस्थित होने के कारण तीन दिन तक प्रतीक्षा में वह भूखा पड़ा रहा, इतनी प्रबल ब्रह्मविद्या जानने के लिये उसकी उत्कण्ठा थी। लौटने पर ऋषि ने सब वृतान्त जान कर कहा कि 'क्योंकि तुम अतिथि हो कर तीन दिन तक मेरे घर पर भूखे पड़े रहे हो

इसलिये मैं तुम्हें तीन वर देता हूं तुम इच्छानुसार मांग सकते हो। नचिकेता ने दो वरों के लिये तो कर्मकाण्ड विषयक दो प्रश्न किये और उनका उत्तर पा लिया परन्तु तीसरा वर उसने अध्यात्मवाद सम्बन्धी प्रश्न करके मांगा, इस आत्मिक जिज्ञासा को सुन कर ऋषि चकित हो गये। उन्हें सन्देह हुआ कि कदाचित् नचिकेता आत्मिकरहस्य समझने का अधिकारी न हो इस लिये ऋषि ने नचिकेता से बार २ कहा कि इस वर को छोड़कर कोई दूसरा मांगो। संसार के सारे भोग और ऐश्वर्य मुझ से मांगलो। परन्तु इस प्रश्न को न पूंछो ? यहाँ तक कि उपनिषद् कहती है कि नचिकेता को समझाने के लिये ऋषि ने माया का इन्द्रजाल दिखा कर उससे कहा किः—ये रथों में बैठी हुयी वाद्यवीणा सहित सुन्दर स्वर्गीय अप्सरायें हैं, ये सारे सांसारिक भोग हैं, इनसे आनन्द करो परन्तु उस प्रश्न को मत पूंछो, कैसी कठोर परीक्षा का समय है, दुनियां भर के ललचाने वाले सारे भोग लुभाने के लिये सामने खड़े हैं और नचिकेता को आत्मिक मार्ग की कठोर चट्टान से फिसलाना चाहते हैं, परन्तु उसकी आत्मिकनिष्ठा दृढ़ हो चुकी है वह अपने स्थान पर मज़बूत खड़ा है। दुनियां के भोग उसे नहीं गिरा सकते और वह ऋषि से कहता हैः—'मैं इन क्षणिक भोगों का क्या करूंगा ये तो थोड़े ही दिनों में इन्द्रियों का तेज़ नष्ट कर क्षीण हो जाते हैं। मुझे इन की ज़रूरत नहीं। मैं तो उसी प्रश्न को पूंछता हूं। ऋषि उसकी दृढ़ता देख कर प्रसन्न होकर कहते हैं, अब मैं तुझे मृत्युविद्या का रहस्य बतलाऊंगा, तुझे दुनियां के लोभ और लालच तेरे स्थान से

नहीं डिगा सके, उस धन के चक्कर में तू नहीं फंसा जिसमें बहुत से मनुष्य डूब जाते हैं। अन्त में ऋषि 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' मार्ग का भेद कहते हैं:—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद्वृणीते।

अर्थात् श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मार्ग मनुष्य के समीप आते हैं। धीर पुरुष परीक्षा पूर्वक उनका विवेक करता है और प्रेयोमार्ग (प्रियमार्ग) की अपेक्षा श्रेयोमार्ग (कल्याण-मार्ग) को स्वीकार करता है परन्तु मन्दबुद्धि वाला कल्याण-मार्ग (श्रेयस्) को छोड़ कर प्रियमार्ग (प्रेयस्) को ही स्वीकार करता है। इनमें प्रेयोमार्ग सांसारिक भोग और सुख (Pleasure) का है जो मनुष्य को प्रिय लगता है। यह रास्ता आत्मिक प्रवृत्ति से हटा कर सांसारिक सुखों की ओर ले जाने वाला है। दूसरा श्रेयोमार्ग है जो सांसारिक भोग और विषय-तृष्णा पर विजय पाने के पश्चात् आत्मा की ओर प्रवृत्त करता है। यह श्रेय अथवा कल्याण (Good) का रास्ता है। इस प्रकार यथार्थ कल्याण और ऐन्द्रियिक सुख के दो अलग २ रास्ते हैं। उपनिषद् कहती है कि आध्यात्मिक सुख के लिये आवश्यक यह है कि मनुष्य प्रेयोमार्ग छोड़ कर श्रेयो-मार्ग स्वीकार कर ले।

४ आत्मविषयक सिद्धान्त] आत्मा के सम्बन्ध में सब से महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसको आज तक मानवबुद्धि ने समझा है, उपनिषदों में वर्णित है। तर्क का अन्तिम सिद्धान्त यह है

कि आत्मा की सत्ता है परन्तु वह ऐन्द्रियिक जगत् से परे है और उसे हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते, केनोपनिषद् में आया है:—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ॥

चक्षु अर्थात् सारी ज्ञानेन्द्रियें वाणी अर्थात् सारी कर्मेन्द्रियें उस तक नहीं पहुंच सकती, और न मन उस तक पहुंच सकता है। हम उसे नहीं जानते। न यह जानते हैं कैसे उसे बतलाया जाय। वह जाने हुए से परे है और न जाने हुए से भी परे है (न जाने हुए से परे कहने का यह अभिप्राय है कि प्राकृतिक जो पदार्थ हमने अभी नहीं जाने उनसे भी वह परे है)।

यह वाक्य स्पष्ट रूप से बतलाता है कि आत्मा इन्द्रियज्ञेय नहीं। फिर क्या उपनिषद् भी अज्ञेयवाद को बतलाती है, अर्थात् आत्मा जाना ही नहीं जा सकता? पर उपनिषदों में अज्ञेयवाद का सिद्धान्त सम्भव नहीं, क्योंकि आत्मा के ज्ञान के लिये ही उपनिषदों का प्रारम्भ है और जगह २ आत्मज्ञान प्रशंसा की गई है। इसी केन उपनिषद् में कहा है:—

इह चेदवेदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः

अर्थात् 'इस जन्म में यदि आत्मा को जान लिया तो अच्छा है नहीं तो बड़ी भारी हानि है' दूसरी जगह इसी केन उपनिषद् में आत्मा के विषय में एक पहेली लिखी है जो हमें चक्कर में डाल देती है:—

यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

जिसका (आत्मा) न जाना हुआ है उसका जाना हुआ है और जिसका जाना हुआ है वह नहीं जानता । जानते हुओं का न जाना हुआ है और न जानते हुओं का जाना हुआ है । यह कठिन है कि हम यहाँ इस पहेली का अर्थ समझा सकें । इसका अर्थ इस परिच्छेद के अन्तिम भाग तथा 'असम्प्रज्ञात' समाधि के प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा । उपनिषदों ने आत्मा के ज्ञान को स्वीकार किया है । उपनिषद् इस जगत् का सार और असलियत सूक्ष्म आत्मा को ही बतलाती हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में आता है—

एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदँ सर्वँ तत्वमसि श्वेतकेतो ।

यह आत्मा सूक्ष्म है, यह आत्मा सारे प्राकृतिक जगत् का सार है वह आत्मा तू है ।

साथ ही उपनिषदों ने इस बात को भली भाँति बतलाया है कि हम आत्मा के विषय में जो कुछ सोच सकते हैं वह केवल निषेधात्मक (Negative) है अर्थात् आत्मा ऐसा २ प्राकृतिक नहीं इत्यादि । बृहदारण्यक में आया है:—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थू
लमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्व-
नाकाशमसङ्गमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽस्ते
जस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरवाह्यं न तदश्नाति किंचन-

इस वाक्य में बतलाया है कि यह न क्षीण होने वाली आत्मा स्थूल नहीं दीर्घ नहीं ह्रस्व नहीं...... (ऐसी नहीं ऐसी नहीं) इत्यादि अर्थात् आत्मा के स्वरूप के विषय में हम 'नहीं, नहीं' (नेति २) ही कह सकते हैं। उपनिषद् ने अन्तिम परिणाम को इस वाक्य में रख दिया है:-

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥

अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन से उसके स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। 'वह है' ऐसा कहने के सिवाय और उसके विषय में हमें क्या ज्ञान हो सकता है?

५ उपनिषदों में आत्मद्वैताद्वैत) उपनिषदों के बहुत से वाक्यों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है। कोई उन्हें आत्मा की ओर लगाते हैं और कोई जीवात्मा की ओर। और इससे उपनिषदों में द्वैत अद्वैतवाद का झगड़ा भी चल देता है। हमारे विचार में उपनिषदों में प्राकृतिक जगत् से पृथक् सामान्य आत्मा का वर्णन है जो जीवात्मा और परमात्मा दोनों के ही लिये है। उपनिषदों ने बहुधा आत्मा और परमात्मा का अलग २ वर्णन नहीं किया है, परन्तु उपनिषदों ने आत्मद्वैत (जीवात्मा और परमात्मा) स्वीकार किया है। 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्'।

'भोक्ता' (जीव) भोग्य (प्रकृति) प्रेरिता (परमात्मा) यह तीन प्रकार का ब्रह्म है। उपनिषदों के बहुत से ऐसे वाक्य हैं जिनमें जीवात्मा और परमात्मा को बिलकुल अलग अलग

माना है परन्तु हमें यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहि-
ये—यद्यपि टीकाकारोंने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया--कि
उपनिषदों में अधिकतर आत्मा परमात्मा का वर्णन एक साथ
ही किया है क्योंकि उपनिषद् इस दृश्यमान जगत् से परे पृथक्
आत्मसत्ता का बोध कराना चाहती हैं और एक साथ वर्णन
करने के कारण ही बहुधा यह प्रतीत होता है कि उपनिषद्
अद्वैत आत्मा को स्वीकार करती हैं।

६ आत्मसाक्षात्कार उपनिषद् और योग] हमने
ऊपर बतलाया है कि उपनिषदों ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की
है कि आत्मा हमारे सारे अनुभव से परे है। हम केवल उसे
इतना ही जान सकते हैं। साथ ही हमने यह भी कहा है
कि उपनिषदों में आत्मविषयक अज्ञेयवाद (Agnosticism)
नहीं फिर अनुभव से परे होने पर भी आत्मा का साक्षात्कार
कैसे हो सकता है ? इन सारे संशयों की गांठ उपनिषद् के
एक वाक्य से खुल जातीहै, आत्मदर्शन का रहस्य बताने वाला
ऐसा वाक्य संसार के सारे तत्त्वशास्त्र में मिलना कठिन है।
उपनिषदों में योग का सारा रहस्य इसी एक वाक्य में पाया
जाता है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति
नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षेदावृत्तचक्षुरमृत
त्वमिच्छन्—

अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा नेः—

(१) हमारी इन्द्रियों को बाह्य विषयों में जाने वाला बनाया है

इस लिये मनुष्य बाह्य विषयों को देखता है अन्तरात्मा को नहीं। कोई धीर अमृत (मोक्ष) को चाहता हुआ आंख मूंद कर अन्दर की ओर आत्मा को देखता है।

वाक्य के प्रथम भाग में केवल इतना बतलाया है कि हमारा ऐन्द्रियिक अनुभव बाह्य जगत् तक सीमित है हमें वह उसके आगे नहीं लेजा सकता परन्तु अगले भाग में एक निश्चित रीति ऐन्द्रियिक अनुभव से आत्मा तक पहुंचने की बतलायी गयी है और वह यह है कि:—

आंखों को मूँद लो।

आंखों को मूंदने से अन्तरात्मा का दर्शन हो सकता है। इस का क्या अर्थ है? पहिली बात यह है कि यहां पर 'आंख' सब इन्द्रियोंके लिये उपलक्षण* है अर्थात् सब इन्द्रियोंके विषयों को बन्द करदो, पर इन्द्रियोंके सारे विषय हम कैसे बन्दकर सकते हैं? यदि सारी इन्द्रियों को हम बाहर से मूंद भी लें तब भी हमारे अन्दर विषयों की भावना-उनकी स्मृति बनी रहती है। सारे ऐन्द्रियिक विषयों को अपने अन्तःकरण से निकाल देना हमारे लिये कितना कठिन है! ऐन्द्रियिक विषयों कों को रोक देना ही जिसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' भी कहते हैं योगशास्त्र सिखाता है। अन्तःकरण की सारी वृत्तियों को-सारे विषयों को

---

* बहुत से पदार्थों में एक को कह कर शेष का भी ग्रहण कर लेना उपलक्षण कहाता है। इस प्रकार यहां आंख कहने से सब इन्द्रियों का ग्रहण हो जायगा।

रोकने की व्याख्या अगले परिच्छेदों में होगी, उपनिषद् बतला-
ती है कि जब अन्तःकरण में कोई अन्य विषय नहीं
रहता तभी आत्मा का साक्षात्कार या आत्मदर्शन होता है।
कहा है:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं
(अर्थात् उनके सब विषय रुक जाते हैं—वे अपने २ विषयों
को ग्रहण नहीं करतीं) और बुद्धि चलायमान नहीं होती, तरह
तरह के विषयों को ग्रहण न करने के कारण स्थिर हो जाती
है तब परमगति होती है—अर्थात् आत्मदर्शन होता है।

चतुर्थ परिच्छेद

योगसंक्षेप

१ योग शब्दार्थ] यद्यपि, योग का वास्तविक स्वरूप क्या है इसका विवेचन आगे किया जायगा, परन्तु इतना हम ऊपर ही बतला चुके हैं कि 'योग' वह क्रिया या साधन है जिसके द्वारा हम अदृष्ट शक्ति का—आत्मा का—साक्षात् दर्शन करना चाहते हैं और उसके लिये जो साधन योगशास्त्र ने हमारे सामने रक्खा है वह यह है कि हम अपनी मानसिक वृत्तियों को रोकें (मानसिक वृत्तियों को रोकने से क्या तात्पर्य है यह आगे स्पष्ट होगा) इन बातों को ध्यान में रखते हुये हमें योग शब्दार्थ पर विचार करना है—उसका समाख्या निर्वचन अर्थात् यौगिक रीति से धात्वर्थ (Derivation) के अनुसार उसका शब्दार्थ दिखाना है:—

'योग' शब्द दो पाणिनीय धातुओं से बन सकता है:—

(१) युजिर योगे

(२) युज् समाधौ

पहिली धातु का अर्थ, योग=संयोग, जोड़ना (Lonn-ection) है और दूसरी का अर्थ, समाधि=ध्यान एकाग्र होना, (Meditation) है। योग के टीकाकारों ने अधिकतर दूसरी धातु से ही 'योग' शब्द को सिद्ध किया है। योग दर्शन के सबसे बड़े टीकाकार ऋषि व्यास ने लिखा है कि

'योग समाधि का नाम है और वह चित्त का धर्म है' *

इस प्रकार उनने 'योग' शब्द को समाधि का पर्याय मानकर 'युज् समाधौ' धातु से ही बना स्वीकार किया है। योग की क्रिया की दृष्टि से यह अर्थ ठीक है परन्तु यदि उद्देश्य की दृष्टि से देखें तो 'युजिरयोगे' धातु से ही सिद्ध करना अधिक उचित होगा क्योंकि इसका अर्थ जोड़ या संयोग है और योग के द्वारा हमारा अदृष्ट शक्ति अर्थात् आत्मा से संयोग या जुड़ना योग है। महाभारत में भी आया है:—

परेण ब्रह्मणा सार्द्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः

स एव योगी विख्यातः किमन्यद्योग लक्षणम् ॥

अर्थात् हे राजन् पारब्रह्म के साथ आत्मा का एक होना अर्थात् जुड़ना ही योग है। इस प्रकार योग के द्वारा हमारा आत्मा से संयोग होता है इसे ही हम दूसरी भाषा के शब्दों में यों कह सकते हैं (Yog is a process which Connects the man with world beyed noumenon World or Yag is a connecting bridge between phenomenal and noumenal world अर्थात् योग एक प्रणाली है जिसके द्वारा मनुष्य का अदृष्ट जगत् से संयोग होता है अथवा 'योग' एक जोड़ने वाला पुल है जो दृश्यमान जगत् और अदृष्ट यथार्थ

---

* योगः समाधिः स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म योगव्या-समाधिः पा० १ सू० २

जगत् को परस्पर जोड़ता है इस प्रकार योग के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है, जिससे मनुष्य अदृष्ट जगत् में प्रवेश कर सकता हो

२ योग की प्राचीनता-] संस्कृत साहित्य के पुराने से पुराने ग्रन्थोंमें 'योग' का सिद्धान्त पाया जाता है यहां तक कि "योग' का बीज सबसे प्रथम हमें वेदों में ही मिलता है।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः

रोचन्ते रोचना दिवि।

ऋषि दयानन्द ने बतलाया है कि इस मन्त्र में 'युञ्जन्ति' पद योग का सूचक है, इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थोंके अन्तिम भाग उपनिषदों में विस्तार पूर्वक योग का वर्णन है, महाभारत और उसी का एक भाग गीता तथा शान्तिपर्व विस्तार के साथ योग का प्रतिपादन करते हैं। यह कहना कठिन है कि 'योग' का आरंभ किसी एक विशेष ऋषि या सम्प्रदाय ने अमुक समय में किया था। योगी भी भारतवर्ष में सदा से चले आते हैं।

३ योग शास्त्र] परन्तु सामान्य रीति पर योग शास्त्र या योगदर्शन से महर्षि पातञ्जलि कृत योगदर्शन का ग्रहण होताहै। यह महर्षि पातञ्जलि व्याकरण महाभाष्य केनिर्माता ही है या कोई दूसरे, इस विषय में विद्वानों में विवाद है। प्रबल पक्ष यही है कि 'योग' के प्रणेता और महाभाष्य के बनाने

*ऋगवेदादि भाष्य भूमिका में इस मन्त्र की योगपरक व्याख्या की गयी है

वाले ही पतञ्जलि थे क्योंकि समयनिर्णय की दृष्टि से योगदर्शन की अपेक्षा महाभाष्य बहुत नवीन ठहरता है, परन्तु हम ग्रन्थ-कर्त्ता सम्बन्धी विवाद में नहीं प्रवेश करना चाहते क्योंकि यह विषय अत्यन्त विवादास्पद है

योग का समय] पाश्चात्य विद्वान् बड़े यत्नपूर्वक भिन्न२ लेखकों का समय निर्णय करते हैं। योग के अनेक ग्रन्थों और सिद्धान्तों का मूल किस समय हुआ इसका पता लगना असम्भव के समान है, भारतवर्ष में न जाने कितने पुराने समय से योग के सिद्धान्त चले आते हैं, महर्षि पातञ्जलि आदि के समय निर्णय के विषयमें जो पाश्चात्यों ने सिद्धान्त रक्खेहैं वे बिलकुल व्यभिचारी कल्पना पर निर्भर हैं अतः योगसाहित्य के काल निर्णय का प्रयास करना हम यहां उचित नहीं समझते।

५ योग सम्बन्धी साहित्य] योग सम्बन्धी साहित्य बहुत विस्तृत है। उसकी गणना भी यहां नहीं की जा सकती केवल दिग्दर्शन कराया जायगा। महर्षि पतञ्जलि के योग, दर्शन पर व्यासकृत भाष्य है, यही भाष्य सर्वोत्तम तथा योग की कुंजी है। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह टीकाकार व्यास वेदान्तशास्त्र के निर्माता व्यास नहीं है क्यों कि ऐसा पता चलता है कि व्यास एक पदवी थी जिसे धारण करने वाले समय २ पर अनेक व्यास होते रहे हैं। इसी व्यास-भाष्य को स्पष्ट करने के लिये वाचस्पति मिश्र ने अपनी टीका लिखी है। महर्षि पतञ्जलि के योग रहस्य को जिस प्रकार 'व्यास' ने समझा है उस प्रकार योग में वाचस्पति की दृष्टि नहीं पहुंची है क्यों वाचस्पति मिश्र केवल दार्शनिक पण्डित

थे। हां व्यासभाष्य का पद-पदार्थ समझने के लिये वाचस्पति की टीका बहुत उपयोगिनी है। योग सूत्र पर दूसरी पुरानी वृत्ति भोजदेव की है एक संक्षिप्त पुस्तक जिसमें योग सिद्धान्त का संग्रह किया गया है। योगसार संग्रह है और भी अनेक छोटी बड़ी पुस्तकें हैं। इसके अतिरिक्त हठयोग का पृथक् साहित्य है, हठयोग की पुस्तकें घरएड संहिता। आदि हैं।

६ योग और सांख्य] योगशास्त्र की दार्शनिक प्रक्रिया अर्थात् उसके तार्किक विचार 'सांख्य' से मिलते हैं अथवा कहना चाहिये कि उससे ही लिये गये हैं। 'सांख्य' भारतवर्ष का अत्यन्त पुराना—कदाचित् सब से पुराना-दार्शनिक सम्प्रदाय हैं। उसका प्रारंभ महर्षि कपिल से हुआ था पीछे अनेक आचार्यों ने इस दार्शनिक सम्प्रदाय का विस्तार किया। सांख्य के विचारों ने भारत के सारे विचारों पर गहरा असर डाला है। विद्वानों का विचार है कि बौद्धधर्म का दार्शनिक आधार भी सांख्य के तर्क में ही है क्यों कि 'संसार दुःखमय है' इस सिद्धान्त को स्पष्टरूप से सब से पहिले कपिल ने ही प्रतिपादित किया था। सांख्य के दार्शनिक विचारों को लेकर (जिन्हें हम आगे दिखायेंगे) ही महर्षि पतञ्जलि ने साधना का उपदेश दिया। इस प्रकार योगशास्त्र में 'तर्क' सांख्य का है और 'साधन' योगशास्त्र का है इसी लिये गीता में 'सांख्य' और 'योग' शब्द ज्ञान और कर्म के लिये भी प्रयुक्त हुयेहैं। योग शास्त्र का नाम ही 'सांख्य प्रवचन' है। कपिल ने अपने तर्कमें

'ईश्वर' को स्थान नहीं दिया, पतञ्जलि ने ईश्वर का वर्णन योग में किया है ऐसा मान कर 'योग शास्त्र' को 'सेश्वर सांख्य दर्शन' भी कहा गया है।

७ दार्शनिक प्रक्रिया-] दर्शन शास्त्र के इतिहास में सब से पहिले कपिल ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि आत्मा प्रकृति से अलग है स्वरूपत: प्रकृति से सर्वथा अलग होनेपर भी आत्मा अविद्या या अज्ञानसे प्रकृति में फंसा हुआ है उसमें लिपटा हुआ है अपने यथार्थ स्वरूप में आत्मा शुद्ध बुद्ध. मुक्त और सारे क्लेशों से रहित है उसे जो कुछ भी दुःख क्लेशादि हैं वे सब प्रकृति अर्थात् शरीर के सम्बन्ध से हैं तत्वज्ञान के द्वारा मनुष्य को जब यह ज्ञान होता है कि मैं शरीर से पृथक् हूं मैं आत्मा स्वरूप अप्राकृतिक हूं तभी वह दुःखों से छूटता है और उसकी मोक्ष होतीहै। इस प्रकार तत्त्वशास्त्र या दर्शनशास्त्र का सबसे बड़ा कार्य यहहै कि प्रकृति और आत्माका पृथक् २ होनेका ज्ञान होजाय। हमारा सम्बंध प्रकृतिसे शरीर के द्वारा और शरीर भी बुद्धि के द्वारा हो रहा है। हमें बुद्धि और आत्मामें भेद प्रतीत नहीं होता वे दोनों सर्वथा एकही प्रतीत होते हैं बुद्धि और आत्मा के एक रूप मालूम पड़ने का नाम योग में 'अस्मिता' रक्खा गया है अर्थात् 'अस्मि' मैं हूं इस ज्ञान में मनुष्य को बुद्धि और यथार्थ आत्मा का अलग २ बोध नहीं होता। तत्त्वज्ञान की पराकाष्ठा यह है कि बुद्धि और आत्मा का

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता, योगसाधन पाद सू०
दृक्शक्ति = पुरुष, आत्मा। तथा दर्शन शक्ति = बुद्धि
उनकी एकात्मता = एक रूप होना

पृथक् २ ज्ञान होजाय इसी को साँख्य में "सत्त्व पुरुषान्यताख्याति" कहा गया है। यह शब्द सांख्य फिलासफी की कुंजी है, इसका अर्थ यह है कि सत्त्व = सात्विक प्रकृति की बनी बुद्धि और पुरुष = आत्मा इन दोनों की अन्यताख्याति = पृथक् २ होनेका बोध सारे साँख्य की यही दार्शनिक प्रक्रिया है यही उसका सार है। योग इसी दार्शनिक प्रक्रिया को को स्वीकार करता हुआ बतलाता है कि हम किस प्रकार प्रकृति और आत्मा के प्रथक् होने का या बुद्धि और आत्मा के अलग २ होने का साक्षात् ज्ञान कर सकते हैं। जिन्हें पूर्व जन्म के संस्कार आदि विशेष कारणों से वैराग्य और ज्ञान है उन्हें छोड़कर साधारण आदमी सहस्र यत्न करने पर भी आत्मा और बुद्धि या शरीर के पृथक् २ होने की भावना नहीं कर सकता इस लिये कोई क्रियात्मक साधन होना चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य आत्मा और बुद्धि की पृथक् २ भावना करने योग्य बन सके, और वह साधन योग हमारे सामने रखता है। इस प्रकार 'सांख्यशास्त्र" के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप से चरितार्थ करना 'योग" का काम है।

८ योग शास्त्र का मनोविज्ञान] ऊपर हमने बतलाया है कि आत्मा का बुद्धि के द्वारा प्रकृति से सम्बद्ध होता है। आत्मा का प्रकृति से सम्बन्ध यही है कि उसे प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान होता है उससे उसे सुख दुःख होता है और वह उन पदार्थों से काम लेता है इस प्रकार आत्मा

और प्रकृति के सम्बन्ध में विचार करते हुये मनोविज्ञान* की दृष्टि से यह बतलाना आवश्यक है कि हमें किस प्रकार ज्ञान होता है और किस प्रकार आत्मा पर हमारे ज्ञान का असर होता है। इस विषय में सांख्य और योग की प्रक्रिया एक ही है और वह संक्षेप से इस प्रकार है कि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थ का बुद्धि या अन्तःकरण में आभास पड़ता है जिसके कारण बुद्धि उस पदार्थ का आकार ग्रहण करती है जैसे 'घट' बाह्य पदार्थ है उसका नेत्र इन्द्रिय के द्वारा बुद्धि में आभास होता है और बुद्धि 'घटाकार' में परिणत होजाती है। इस प्रकार जिस २ पदार्थ में बुद्धि का आभास पड़ता है बुद्धि उसी २ पदार्थ का आकार ग्रहण करती चली जाती है। इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों के बोध होने के विषय में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं एक तो यह कि इन्द्रिय बाह्य विषय को तभी ग्रहण करती हैं जब 'मन' उसके साथ होता है। मन को दस इन्द्रियों के अतिरिक्त एक ११ वीं इन्द्रिय माना गया है, जो सांख्य योग सिद्धान्त में बुद्धि के अतिरिक्त है क्योंकि इन्द्रियों के दस होने पर भी 'मन' एक ही है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों से तात्पर्य बाहरी नेत्र आदि के गोलकों से नहीं है किन्तु इन्द्रियें गोलकों के अतिरिक्त सूक्ष्म हैं। हमारे

* जिन्हों ने उच्च श्रेणी की पश्चिमी फिलासफी पढ़ी है उनके लिये यह कह देना आवश्यक है कि यहां मनोविज्ञान (Psychology) और ज्ञानसिद्धान्त (Epistemology) दोनों समस्याओं पर सम्मिलित विचार है।

'मस्तिष्क' में प्रत्येक इन्द्रिय का अलग २ स्थान बना हुआ है जैसे कि मस्तिष्क (Cortex) में 'नेत्र का स्थान' (Optic-region) अलग बना हुआ है उस पर चोट आने से मनुष्य अन्धा हो जायगा चाहे बाहरी आंख बिलकुल ठीक बनी रहे। इसी प्रकार और इन्द्रियों के भी मस्तिष्क में स्थान हैं और उन्हीं स्थानों को वस्तुतः वह वह इन्द्रिय कहा जा सकता है। उन स्थानों को बाह्य गोलकोंसे मिलाने वाली एक 'ज्ञान स्नायु' होती है। जैसे मस्तिष्क नेत्रेन्द्रिय के स्थान को बाहरी नेत्र के गोलक से नेत्र स्नायु (Optic Nerve) मिलाती है। इन्हीं स्नायुओं को हमारे दर्शन में 'इन्द्रिय प्रणाली' कहा गया है इनके द्वारा ही प्रत्येक इन्द्रिय का आभास मस्तिष्क के इन्द्रिय स्थान तक पहुंचता है और उसके पश्चात् 'बुद्धि' उस पदार्थ का आकार ग्रहण करती है परन्तु बुद्धि के घट का आकार ग्रहण करने से ही हमें घट का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि ज्ञान अन्ततः पुरुष या आत्मा को ही होता है, इसलिये उसका पुरुष से सम्बन्ध होना आवश्यक है वह सम्बन्ध 'प्रतिबिम्ब' द्वारा माना गया है। इस प्रतिबिम्ब को व्याख्या दो दार्शनिक सम्प्रदायों ने दो प्रकार से की है।

* एक कहता है कि उस पदार्थ का आकार ग्रहणकी हुयी बुद्धि का प्रतिबिम्ब या प्रतिच्छाया (Reflection) आत्मा में पड़ता है जैसे हरे नीले आदि रंगों का प्रतिबिम्ब स्वच्छ स्फटिक पत्थर पर पड़ता है। और जिस तरह उन रंगों के प्रतिबिम्ब से वह पत्थर हरे या नीले रंग का दीखता है इसी

* इस प्रकार की व्याख्या सांख्य और योग के प्रसिद्ध व्याख्याकार विज्ञानभिक्षु ने की है।

प्रकार हमारी आत्मा में भी घटादि पदार्थों के आकार को धारण की हुई बुद्धि के प्रतिबिम्ब होने से उन २ पदार्थों का आभास होता है और इस प्रकार 'पौरुषेय बोध' अर्थात् आत्मा को पदार्थों का ज्ञान होता है।

* दूसरा पक्ष यह है कि बुद्धि का आत्मा में प्रतिबिम्ब नहीं होता किन्तु बाह्य पदार्थों के आकार में परिणत हुयी बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब होता है जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब होता है जिस तरह जल के हिलने से चन्द्रमा भी हिलता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार बुद्धि के बाह्य पदार्थों के आकार में परिणत होने के कारण आत्मा में भी उन पदार्थों का बोध होता है

इन दोनों पक्षों में बहुत सा वादविवाद है उसे हम यहां नहीं लिख सकते। परन्तु बुद्धि के बाह्य पदार्थों के आकार ग्रहण करने पर उन के आत्मा में प्रतिबिम्ब द्वारा ज्ञान होने की कल्पना दोनों पक्षों में है। यहां यह प्रश्न होता है कि सांख्य और योग ने बाह्य पदार्थों के प्रत्ययों को अर्थात् बाह्य पदार्थ सम्बन्धी वृत्तियों (Mental States) को पहिले बुद्धि में मानकर फिर उनका प्रतिबिम्ब क्यों आत्मा में स्वीकार किया है? बुद्धि में ही बाह्य पदार्थ की वृत्ति होने पर ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? पदार्थ के बोध के लिये आत्मा में प्रतिबिम्ब मानने की क्या आवश्यकता है? अथवा आत्मा ही बाह्य पदार्थों

* यह दूसरा पक्ष उन लोगों का है जिनमें पण्डित वाचस्पति मिश्र मुख्य हैं।

की वृत्ति क्यों न स्वीकार की जावे ? बीच में 'बुद्धि' की क्या जरूरत है ? इसका उत्तर यह है कि 'बुद्धि' में वृत्ति मानकर आत्मा में प्रतिबिम्ब मानने की आवश्यकता तो इस लिये है कि बुद्धि जड़ है और बोध चेतन 'पुरुष' को ही होसकता है, परन्तु बाह्य पदार्थों का आकार ग्रहण कर उसके अनुसार भिन्न२ पदार्थों की वृत्ति बनना 'पुरुष' में इसलिये नहीं माना कि इस प्रकार पुरुष या 'आत्मा' परिणामी परिवर्तनशील बन जायगा क्योंकि उसे भिन्न २ पदार्थों के आकार ग्रहण करने पड़ेंगे उसमें भिन्न २ समय में भिन्न २ पदार्थों का ज्ञान होगा और यदि वह ज्ञान आत्मा का ही गुण हो तो आत्मा परिणामी होगा * इसलिये सांख्य ज्ञान को 'बुद्धि' का गुण मानता है और आत्मा में उस ज्ञान का प्रतिबिम्ब मानता है

९ पांच वृत्तियें-] सांख्य योग की ऊपर बताई प्रक्रिया के अनुसार हमें किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष बोध होता है, प्रत्यक्ष के सिवाय सम्बन्धके ज्ञान से अनुमान होताहै तथा आप्तवचन सुनकर शब्द ज्ञान होता है इन्हें योग में अन्य शास्त्रोंके समान माना है। इन तीन साधनों से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है जिसे प्रमाण कहते हैं, पदार्थों के उलटे ज्ञान को विपर्यय जो वस्तु केवल शब्दों के प्रयोग के कारण मालूम पड़े, वस्तुतः न हो जैसे यद्यपि 'चैतन्य' ही आत्मा है परन्तु फिर भी

* न्याय ने ज्ञान को आत्मा का गुण माना है सांख्य उसका खण्डन करता है क्योंकि यदि ज्ञान आत्मा का गुण है तो ज्ञान बदलता रहता है उसके कारण आत्मा भी बदलने वाला अर्थात् परिणामी होगा।

"आत्मा का चैतन्य' ऐसा बोलते हैं तो यह केवल शब्दों के प्रयाग से मन में ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'विकल्प' कहते हैं। इसी प्रकार 'स्मृति' भी बुद्धि की एक अवस्था है जिसके द्वारा हमें जाने हुए पदार्थ की फिर याद आती है और 'निद्रा' भी एक अन्तःकरण की अवस्था विशेष है। इस प्रकार प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच वृत्तियें अर्थात् बुद्धि की भिन्न २ अवस्थायें हैं बुद्धि में इन पांच में से ही किसी न किसी का एक रूप अवस्थित होता है

१० योग प्रक्रिया] ऊपर हमने स्पष्ट कर दिया कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान या उन की वृत्ति बुद्धि में ही होती है आत्मा में नहीं। आत्मा या पुरुष स्वरूप से शुद्ध स्वच्छ निर्लेप है उसमें केवल प्रतिविम्ब होता है और उस प्रतिविम्ब या प्रतिच्छाया के कारण आत्मा में बाह्य पदार्थों का आभास होता है, जिस प्रकार स्फटिक पत्थर स्वच्छ है केवल उसमें हरे नीले आदि रंग का प्रतिविम्ब भासित होता है वस्तुतः वह हरा नीला आदि नहीं हो जाता, परन्तु वह स्फटिक हरा नीला आदि न होने पर भी हमें उसी रंग में दीख पड़ता है और उसका असली श्वेतरूप दिखायी नहीं देता। इसी प्रकार हमें आत्मा का भी असली रूप यथार्थ स्वरूप दिखायी नहीं देता किन्तु प्रतिविम्ब के कारण आत्मा बाह्य पदार्थों के रंग में रंगा हुआ दीखता और जब भी हम आत्मा को देखना चाहें हमें बाह्य पदार्थ ही दीखेगा जिसका आत्मा पर प्रतिविम्ब पड़ रहा है, इस लिये जिस

प्रकार सफेद स्फटिक पत्थर का जिस पर हर समय नीले पीले रंगों के प्रतिबिम्ब पड़ते रहते हैं कभी असली रूप नहीं दिखायी देता, इसी प्रकार 'आत्मा' में भी भिन्न २ विषयों के आकार धारण करने वाली बुद्धि का प्रतिबिम्ब प्रत्येक समय पड़ता रहता है। बुद्धि में ऊपर बतलायी पांच वृत्तियों में से कोई न कोई वृत्ति सदा बनी रहती है। और इस लिये वह सदा उन विषयों के रंग में रंगी रहती है और उसका यथार्थ स्वरूप कभी दिखलायी नहीं देता। स्फटिक का यथार्थ स्वरूप दीखे इसके लिये आवश्यक है कि उस पर रंगों का प्रतिबिम्ब न पड़े, अथवा जलमें चन्द्रमाका हिलता हुआ दर्शन न हो किन्तु स्थिर दर्शन हो इसके लिये आवश्यक है कि जल हिलता हुआ न हो। इसी प्रकार आत्मा का अपने स्वरूप में दर्शन हो इसके लिये आवश्यक है कि बुद्धि में भिन्न २ वृत्तियें न हों जिनका आत्मा में प्रतिबिम्ब पड़ सके, जब बुद्धि में कोई प्रतिबिम्ब न होगा तो आत्मा अपने यथार्थ रूप में अवस्थित होगा, इस लिये 'योग' जिसके द्वारा आत्माका साक्षात्कार होताहै यही है कि हम 'बुद्धि की वृत्तियों को रोक लें' नीचे के तीन सूत्रों में योग की सारी प्रक्रिया आ जाती है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

'योग' चित्त (बुद्धि) की वृत्तियों को रोकने का नाम है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'

वृत्तियों के रोकने पर आत्मा की अपने असली रूप में

स्थिति होती है।

'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

वृत्तियों के न रोकने की दशा में आत्मा में उन २ वृत्तियों का रूप आभासित होता है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है वस्तुतः इन तीन सूत्रों की व्याख्या है।

११ योग साधन एक वैज्ञानिक प्रणाली] बुद्धि की वृत्तियों को किस प्रकार रोका जाय किस प्रकार उनका उत्पन्न होना बन्द हो जाय? यह 'योग' के सामने प्रश्न है। तनिक सा ध्यान देने से पता चल जायगा कि संसार में 'वृत्तियों' को रोकने से बढ़कर कठिन कार्य कोई नहीं है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषयों की वृत्ति होती रहती है उसके बाद इन्द्रियों को भी बन्द करें तो 'स्मृति' के द्वारा उन्हीं विषयों की याद आती है और एक वृत्ति फिर होती है। जब तक हम जाग रहे हैं कोई न कोई ज्ञान हमारे अन्दर अवश्य रहेगा और जब हम सोते हैं तो निद्रावृत्ति होती है। हमारे अन्दर कोई वृत्ति न रहे इसकी साधारणतया कल्पना करना भी तो कठिन है। संसार में मनुष्य के लिये घोरतम कठिन कार्य वृत्तियों का रोकना है। और योग इसी उद्देश्य तक पहुंचने का मार्ग बतलाता है। योग में इसके लिये अनेक साधन बतलाये हैं जिनमें अधिकतर उच्च आत्माओं के लिये हैं। परन्तु 'योग' के द्वितीय साधनपाद में सर्वसाधारण के लिये योग तक पहुंचने का मार्ग बतलाया है। वह इतना क्रमपूर्ण और वैज्ञानिक है

कि उसकी स्पष्टता की ओर देखकर आश्चर्य होता है। हम क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी तक ऊपर बढ़ते चले जाते हैं। प्रत्येक आदमी खेद अपने जीवन में चरितार्थ कर ऊंचा उठा सकता है गिरे से गिरे संसारिक जीवन के कीचड़ में फंसे हुये आदमी के लिये भी अवसर है कि उस मार्ग पर चलता हुआ 'योग' तक पहुंचे। इस पुस्तकमें हमें साधन पाद के बतलाये योग-मार्ग की ही विस्तृत व्याख्या करनी है जो अगले परिच्छेदों में दी जायगी। यहाँ संक्षेप से इतना कह देना है कि इसमें आठ योगके अङ्ग बतलाये गये हैं। पहिले दो अङ्गयम और नियम हैं जिनके पालन करने से क्रमशः संसारके पदार्थोंमें बन्धन—राग ढीला होता जाता है, जब यह होता है तभी मनुष्य किसी अंश तक योग का अधिकारी बनता है, इस लिये तीसरा अङ्ग 'आसन' है जिसमें मनुष्य ध्यान के लिये किस प्रकार बैठना चाहिये यह सीखता है। 'आसन' को सीखने से यह होता है कि गरमी, सरदी, आदि बाह्य द्वन्द्वों के झोंके उसके ध्यान को इधर उधर नहीं हिला सकते। इसके पश्चात् प्राणायाम चौथा अङ्ग है जिसके द्वारा प्राणवायु के द्वारा ज्ञानतन्तुओं को अपने वश में करते हैं। बाह्य जगत् से हमारा सम्बन्ध शरीर में फैले हुये ज्ञानतन्तुओं द्वारा ही होता है इस लिये वृत्तियों को रोकने के लिये ज्ञानतन्तुओं पर अधिकार होना आवश्यक है ज्ञानतन्तु प्राण की गति से काम करते हैं इस लिये प्राणों को वश में करने से ज्ञानतन्तुसंस्थान (Nervous System) पर अधिकार

होता है, प्राणायाम के पश्चात् जब इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार होता है ये बुद्धि के प्रेरणा के बिना इधर उधर विषयों में नहीं दौड़ती उस अवस्था का नाम प्रत्याहार है। यह योग का पांचवां अङ्ग है। ये पांचों योग के बहिरङ्ग साधन हैं अर्थात् इनके द्वारा हम योग के सम्बन्ध में बाहरी तैयारी करते हैं; इस के आगे तीन अङ्ग अन्तरङ्ग साधन हैं। इनमें प्रथम 'धारणा' है। यहीं से वास्तविक योग का प्रारंभ समझना चाहिये। किसी एक विषय में बुद्धि को लगा देने का नाम धारणा है। उसके पश्चात् 'ध्यान' आता है जिस विषय में बुद्धि को लगाया है लगातार एक रूप से उसी पदार्थ का ज्ञान होना ध्यान है। जब ध्यान ठीक हो जाता तब समाधि होती है. समाधि ध्यानकी पराकाष्ठा है। जब किसी चीजमें हमारा ध्यान इतना लगजावे कि हम उस में लगे हुये अपनेको भी भूलजाये तब समाधि होतीहै। इन आठों अङ्गोंकी विस्तृत व्याख्या आगे की जायगी।

१२ सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात] जब 'ध्येय' पदार्थ के अतिरिक्त किसी का भी ध्यान न रहे, ध्यान करने वाला अपने को भी भूल जावे, यहां तक कि ध्येय पदार्थ के विषय में शब्दार्थसम्बन्ध का भी बोध न हो अर्थात् मेरे ध्येय पदार्थ का 'अमुक' नाम है इत्यादि बोध भी न हो किन्तु केवल ध्येय के आकार का बोध हो, इसे 'समाधि' कहतेहैं, परन्तु यह समाधि की पराकाष्ठा नहीं है क्यों कि इस अवस्था में भी एक ध्येय विषय बना हुआ है और उस विषय सम्बन्धिनी चित्तकी वृत्ति भी बनी रहेगी। इस दशामें चित्तकी

सारी वृत्तियें नहीं रुकी हैं इस से 'सम्प्रज्ञात' समाधि कहते हैं। क्योंकि इस में कुछ न कुछ ज्ञान अर्थात ध्येय विषय का ज्ञान बना रहता है इसी को सजीव या सालम्बन समाधि भी कहते हैं क्यों कि इस में बुद्धि वृत्ति रोकने का एक आलम्बन सहारा या बीज ध्येय विषय बना रहता है। परन्तु इस से अगली अवस्था 'असम्प्रज्ञात समाधि' की है जिसमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, जब हम अपने 'ध्येय' विषय को भी जिसके सहारे हमने अन्यविषयकवृत्तियों को रोका है अपने अन्तःकरण से निकाल देते हैं और हमारे अन्दर कोई भी वृत्ति नहीं रहती तब उस दशा को 'असम्प्रज्ञात' अवस्था कहते हैं इसे ही निर्बीज या 'निरालम्बन' समाधि भी कहते हैं क्यों कि इसमें वृत्ति रोकने वाला कोई आलम्बन रूप ध्येय विषय नहीं रह जाता है। इन का अधिक वर्णन आगे होगा।

१२ योगके दो भेद; हठयोग और राजयोग] जिस योग प्रणाली का पतञ्जलि के योगशास्त्र में वर्णन है और जिस की व्याख्या इस निबन्ध में की गयी है वह राजयोग कहलाता है। राजयोग का अर्थ यह है कि उत्कृष्टयोग अर्थात् ऊंचे दर्जे की योग प्रणाली। परन्तु इस राजयोग के अतिरिक्त एक दूसरा योग का प्रकार हठयोग है, इसका अर्थ यह है कि हठपूर्वक इन्द्रियों को वशमें किया जावे। इसमें अनेक शारीरिक साधनाओं द्वारा शरीर के अङ्गों को वश में किया जाता है। इसीलिये इसका नाम हठयोग है। जो लोग बहुत गिर जाते हैं और जिन पर शारीरिक गिरावट के कारण उच्च बातों का असर ही

नहीं पड़ सकता उनके लिये हठयोग आवश्यक होता है। आज कल यह बात वैज्ञानिक रीति पर मानी गयी है कि यदि किसी में शारीरिक आदतें बहुत खराब पड़ गयी हैं तो उनको दूर करने के लिये केवल मानसिक विचार पर्याप्त नहीं, इसलिये ऐसे लोगों को अपनी शरीरशुद्धि करनी पड़ती है। हठयोग में शरीरशुद्धि की अनेक रीतियें बतायी गई हैं जो कि नेति, धोती आदि अनेक रूपों में प्रसिद्ध हैं। आज कल भी बहुत से संन्यासी इन क्रियाओं को जानते हैं। इनमें से एक बड़ी आश्चर्यजनक क्रिया जिह्वा को तालु की ओर उलटा लेनेकी है। आज कल भी ऐसे हठयोगी पाये जाते हैं जो इस क्रिया को कर लेते हैं। श्वास सम्बन्ध में भी हठयोगी आश्चर्यजनक करतब करते हैं।

हमें हठयोग का वर्णन इस निबन्ध में नहीं करना है। इस विषय में बहुत सी पुस्तकें हैं परन्तु हठयोग की क्रियायें बिना सीखे समझ में नहीं आसकती।

१४ आज कलके योगी] प्राचीन भारत में योग का बहुत अधिक प्रचार था परन्तु इस समय बहुत कम योगियों का पता चलता है। जो लोग 'योग' की ओर प्रवृत्त होते हैं वे भी प्रायः गुरु न मिलने से इधर उधर उलटे रास्तों में भटक जाते हैं। ऋषि दयानन्द की जीवनी से यह पता चलता है कि वे योगियों की तलाश में पहाड़ों में घूमते रहे थे, उन्हें दो बार योगी मिले भी थे। यद्यपि योगी बहुत कम हैं परन्तु ढूंढ़ने और घोर यत्न करने से इस समय भी 'योगी' (चाहे वे पूर्ण न हों) मिल ही जाते हैं। जिन्हें योग के रास्ते में जाना है। उन्हें गुरु बनाने के लिये कोई योगी तलाश करना आवश्यक है।

१५ योग में ईश्वर का विचार] परिच्छेद को समाप्त करने से पूर्व कुछ शब्द योगशास्त्र के ईश्वर विचार के सम्बन्ध में कहने आवश्यक हैं। योगदर्शन को सेश्वरसांख्यदर्शन कहा गया है अर्थात् योग में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गयी है। योग में ईश्वर का लक्षण आदि भी किया गया है। इस से इतना तो पता लगता है कि पतञ्जलि मुनिने ईश्वर को स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि उनकी योग प्रणाली में ईश्वर को आवश्यक रूपेण स्थान नहीं दिया गया है। अर्थात् योग प्रक्रिया बिना ईश्वर के भी हो सकती है क्योंकि ध्यान जमाने के बहुत से साधनों में से एक ईश्वर के प्रणव नाम का जप भी मान लिया है। यह कोई आवश्यक साधन नहीं है। किन्तु बहुत से साधनों में से जिनमें योग के रास्ते पर चलने वाले को कोई एक चुनना पड़ता है एक साधन ईश्वर के नाम का जप भी बतला दिया है। उसके बदले हम किसी दूसरी चीज़ में भी ध्यान लगाकर वही काम कर सकतेहैं। इस प्रकार जपसे हमें ईश्वर का साक्षात्कार नहीं होता यह तो केवल ध्यान जमाने के लिये बतला दिया गया है। ईश्वर का साक्षात्कार तो असम्प्रज्ञातसमाधि द्वारा आत्मा के साक्षात् होने पर ही होसकता है जिसका वर्णन आगे करेंगे।

इति चतुर्थः परिच्छेदः

पंचम परिच्छेद

योग संक्षेप ।

१ योग संक्षेप] यद्यपि हमें इस निबन्ध में विस्तार के साथ अष्टाङ्ग योग का ही वर्णन करना है, परन्तु योग सम्बन्धी इस पुस्तक में यह आवश्यक है कि हम योग के अन्य सिद्धान्तों का भी जो योगशास्त्र में बतलाये गये हैं संक्षेप से वर्णन कर दें, इसलिये इस परिच्छेद में हम यत्न करेंगे कि योगशास्त्र सम्बन्धी सब बातों का संक्षेप से वर्णन हो जाय जिन बातों का ऊपर वर्णन हो चुका है उन्हें हम छोड़ देंगे। यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त होगा और सूत्रों के आधार पर होगा सूत्र हमने नीचे दे दिये हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि हमने सब सूत्र नहीं दिये हैं कुछ छोड़ भी दिये हैं। तथा सूत्रों का प्रायः भावार्थ ही दिया है, क्योंकि शब्दार्थ देने से बहुत बड़ी व्याख्या की आवश्यकता पड़ जाती।

योग के चार पाद हैं जो क्रमशः

प्रथम	समाधिपाद
द्वितीय	साधनपाद
तृतीय	विभूतिपाद
चतुर्थ	कैवल्यपाद

कहलाते हैं। प्रथम पाद में 'योग' या समाधि का स्वरूप वर्णन किया गया है जिसे हमने तीन सूत्रों की व्याख्या द्वारा ऊपर बतला दिया है। द्वितीय पाद में योग के साधनों का वर्णन है। यद्यपि साधनों का वर्णन प्रथम पाद में भी है परन्तु संसार में

फंसे हुये आदमी को योग तक पहुंचने के लिये अष्टाङ्गयोग का वर्णन द्वितीयपाद में ही किया गया है तथा तृतीयपाद में पहिले तो योग के अन्तरङ्ग के साधनों का वर्णन फिर योग के द्वारा होने वाली विभूतियां अर्थात् सिद्धियों का वर्णन है। इसमें अष्टाङ्ग सम्बन्धी भाग को यहीं हम छोड़ देंगे क्योंकि उसका विस्तार हमें अगले परिच्छेदों में करना है। चौथा पाद कैवल्यपाद है इसमें समाधि के द्वारा मोक्षप्राप्ति का वर्णन है। हम क्रमशः एक २ पाद के विषय का संक्षेप करेंगे।

२ समाधिपाद] इस पाद के प्रारंभ में योग के स्वरूप और वृत्तियां का वर्णन कर (जिसे हम पिछले परिच्छेद में दिखला चुके हैं) उन मनुष्यों के लिये जिनमें उच्च संस्कार हैं; बुद्धि की वृत्तियों को रोकने के साधन बतलाये गये हैं।

३ अभ्यास वैराग्य; सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात] सब पहिले अभ्यास और वैराग्य + वृत्तियों को रोकने का साधन बतलाया है। वैराग्यका अर्थ सारे सांसारिक ऐश्वर्य और भोगों में तृष्णा का न होना ॐ है और जब वैराग्य हो जाता है वैराग्य होई बुद्धि को वृत्तिरहित करने के लिये यत्न * करना अभ्यास है। वैराग्य दो प्रकार का बतलाया गया। एक अपर (निचला) वैराग्य और दूसरा पर-वैराग्य। अपरवैराग्य का लक्षण ऊपर कर दिया

+ अभ्यास वैराग्याभ्यांतन्निरोधः। योग पा० १ सू० १२

ॐ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्, योग पा० १ सू० १५

* तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः। योग पा० १ सू० १३

गया पर वैराग्य वह है जिस से कि सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में विद्यमान सात्विक गुणों के प्रति भी तृष्णा का अभाव ✠ हो जाता है अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि में जो उत्कृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें अभिलाषा नहीं रहती। इस प्रकार इसी परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि उत्पन्न होती है जिसमें कोई वृत्ति नहीं होती केवल पुरानी वृत्तियों के संस्कार बने रहते हैं। ‡ दूसरी सम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें कोई न कोई न ध्येय विषय बना रहता है. उसके ध्येय विषय चार प्रकार के बतलाये गये हैं एक स्थूल द्वितीय सूक्ष्म, तृतीय आनन्दरूप, चतुर्थ अस्मिता + (बुद्धि और आत्मा की एकत्व-भावना)। इन चारों विषयों में भावना करनेसे सम्प्रज्ञात समाधि होतीहै। असम्प्रज्ञात समाधि भी दो प्रकारकी बतलायी गयीहै एक भवप्रत्यय दूसरी उपाय प्रत्यय भवप्रत्यय समाधि यद्यपि असम्प्रज्ञात होती है क्यों कि उसमें कोई वृत्ति नहीं रहती परन्तु आत्मज्ञान न होने के कारण फिर संसार की ओर खींच लाती है। × 'उपाय प्रत्यय' वह असम्प्रज्ञात जो क्रमशः योग में श्रद्धा फिर धारणा (जिसे 'वीर्य' शब्द से कहा गया है) पुनः ध्यान (स्मृति), पश्चात समाधि और अन्त में विवेक (प्रज्ञा

✠ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ योग पा० १ सू० १६,

‡ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ यो० पा०१ सू०१८

+ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः। यो०पा१सू१७

× भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् । यो० पा० १ सू० १९

होने पर यह समाधि उत्पन्न होती है। *

४ ईश्वर प्रणिधान) दूसरा साधन चित्त वृत्ति रोकने का ईश्वर प्रणिधान ※ अर्थात् ईश्वर की भक्ति करना है। वह क्लेश, कर्म, कर्मफल, कर्मों की वासना का आधार चित्त इन से रहित है ※। उसमें वह सर्वज्ञता विद्यमान है + जिससे बढ़कर ज्ञान कहीं नहीं होसकता, वह ईश्वर हमारे गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह समय से सीमित नहीं है ※ उस ईश्वर का वाचक 'प्रणव' ओङ्कार शब्द है ◻ ओङ्कार का जप ओङ्कार के अर्थ ईश्वर की भावना करना है। ◎ ईश्वर की भावना से अपने आत्मा के चेतनस्वरूप का बोध होता है क्योंकि जैसे वह शुद्ध बुद्ध मुक्तरूप ईश्वर की भावना करता है वैसे ही आत्माका भी स्वरुप है तथा इस तरह विघ्न भी दूर हो जाते हैं :०:

---

* श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥

योग पा० १ सू० २०।

※ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ योग पाद १ सू० २३

※ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥

योग पा० १ सू० २४

+ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ योग पा० १ सू० २५

※ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

योग पाद १ सू० २६

◻ तस्य वाचकः प्रणवः ॥ योग पा० १ सू० २७

◎ तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ योग पा० १ सू० २८

:०: ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥

योग पा० १ सू० २९

५ विघ्न और उनका निवारण) इसके आगे बतलाया है कि रोग, अकर्मण्यता, सन्देह, प्रमाद, आलस्य, चित्त का विषयों में राग, भ्रम, समाधि तक न पहुंच सकना, समाधि में न ठहर सकना ये बातें चित्त को योग से हटाने वाली हैं। इसीलिये ये विघ्न हैं * इन विघ्नों के साथ ही, दुःख, क्षोभ, अवयवों का कांपना, श्वास प्रश्वास का तेज चलना ये भी उत्पन्न होते हैं‡। इन विघ्नों तथा विघ्नों के साथ उत्पन्न होने वाले दोषों को रोकने के लिये किसी एक विषय में चित्त को लगाकर उसी में अभ्यास करना चाहिये। +

६ चित्त स्थिर करने के अनेक उपाय) इसके पश्चात् चित्त स्थिर करने के लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। जिनका वर्णन किया जाता है। जो योग करना चाहता है उसे सुखी लोगों से मित्रता, दुःखी लोगों पर दया, धर्मात्मा लोगों को देखकर हर्ष और पापियों को देखकर उपेक्षा—उदासीनता का भाव रखना चाहिये। [□]

---

* व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। योग पा० १। सू० ३०

‡ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः योग पा० १ सू० ३१

\+ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। योग पा० १ सू० ३२

[□] मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यऽपुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योग पा० १ सू० ३३

प्राणों के बाहर निकालने और रोकने से भी चित्त स्थिर होता है * विषय ग्रहण करने की इन्द्रियों में उत्पन्न हुई दिव्य शक्ति भी मन को एकाग्र करती है@ प्रकाशमान बुद्धि सत्त्व में भावना करने से भी स्थिरता होती है + या राग रहित चित्त में ध्यान करना चाहिये × अथवा उस समय भी चित्त स्थिर होता है जिस समय स्वप्नज्ञान या निद्राज्ञान होता है ⊠ अथवा यथाभिमत किसी पदार्थ का भी ध्यान करना चाहिये ※ चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु महान् से महान् व्यापक में लगाया जा सकता है ⊠

७ चार समापत्ति) जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक उस पदार्थ के समान दीखता है जिसकी उसमें छाया पड़ती है। इसीप्रकार चित्त भी वृत्तियों के नष्ट होजाने पर ध्येय विषय के आकार में प्रतीत होता है + ये समापत्ति चार प्रकार की हैं।

---

* प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । योग पा० सू० ३४

@ विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्नामनसःस्थितिनिबन्धनी ।
योग पा० १ सू० ३५

+ विशोका वा ज्योतिष्मती । योग पा० १ सू० ३६

× वीतरागविषयं वा चित्तम् । योग पा० १ सू० ३७

⊠ स्वप्ननिद्राज्ञानाऽऽलम्बनं वा । योग पा० १ सू० ३८

※ यथाभिमतध्यानाद्वा । योग पा० १ सू० ३९

⊠ परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः । योग पा० १ सू० ४०

+ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः योग पा० १ सू० ४१

जब चित्त ध्येय का आकार ग्रहण करले परन्तु ध्येय का नाम उसका अर्थ और सम्बन्ध का जब बोध होता रहे तब यदि ध्येय स्थूल हो तो उसका नाम सवितर्का * और ध्येय सूक्ष्म हो तो उस का नाम सविचारा + समापत्ति है। परन्तु जिसमें शब्दार्थ सम्बन्ध, आगम, अनुमानः स्मृति आदि किसी प्रकार का ज्ञान न मिला हो केवल ध्येय विषय का शुद्ध प्रत्यक्ष हो उसे यदि ध्येय स्थूल हो तो निर्वितर्का ⊕ और यदि ध्येय सूक्ष्म हो तो निर्विचारा समापत्ति कहलाती है। इन समापत्तियों में सूक्ष्मविषयता 'प्रकृति' पर्यन्त × है। अर्थात् प्रकृति तक सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय ध्येय हो सकता है। ये समापत्तियें ही सबीज समाधि है। @ इन समापत्तियों में निर्विचारा सब से श्रेष्ठ है और जब यह होती है तभी योगी के अन्दर आत्मिक प्रकाश उत्पन्न होता है। * इस अवस्था में

---

* तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥
योग पा० १ सू० ४२

+ स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाऽर्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का
योग पा० १ सू० ४३

⊕ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ योग पा० १ सू० ४४

× सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ योग पा० १ सू० ४

@ ता एव सबीजः समाधिः॥ योग पा० १ सू० ४६

* निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥ योग पा० १ सू० ४७

योगी की विवेक शक्ति का नाम 'ऋतम्भरा' है,* अर्थात् उस अवस्था में सब ऋत अर्थात् सत्य ही ज्ञान होता है। यह प्रज्ञा शब्द प्रमाण और अनुमान आदि से भिन्न प्रकार की होती है※ क्यों कि उसमें सब पदार्थों का ज्ञान 'योगि-प्रत्यक्ष' द्वारा होता है (योगि-प्रत्यक्ष का वर्णन आगे किया जायगा) दूरस्थ पदार्थों का बोध भी प्रत्यक्षरूप में ही होता है। समाधि अवस्था की प्रज्ञा के संस्कार विक्षेप की अवस्था के संस्कारों को रोकने वाले होतेहैं। ◎ अर्थात् समाधि अवस्थाके संस्कार बार २ समाधि को ही जगाते रहते हैं उनके व्युत्थान सम्बन्धी संस्कारों के निवारक होनेके कारण फिर बार २ चित्त व्युत्थान (चित्त का अनेक विषयों में जाना) की अवस्था उत्पन्न नहीं होती। इस समाधिप्रज्ञा सम्बन्धी वृत्ति के भी निरोध होने पर सब वृत्तियों के निरोध से निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि होती है। ▣

---

* ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा योग पा० १ सू० ४८

※ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् योग पा० १ सू० ४९

◎ तज्जःसंस्कारोऽन्य संस्कारप्रतिबन्धी योग प० १ सू०५०

▣ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः योग पा० १ सू० ५१

८ साधन पाद) इस पाद में उन लोगों के लिये जो व्युत्थितचित्त हैं अर्थात् जिनके चित्त इधर उधर चलायमान हैं और जो सांसारिक जीवन में फंसे हुये हैं, योगसाधन का प्रकार बतलाया गया है। इसी पाद में अष्टाङ्ग योग का वर्णन है जिस की व्याख्या हम अगले परिच्छेद में करेंगे

९ क्रियायोग) जो लोग सांसारिक जीवन में फंसे हुये हैं उनके लिये ध्यानयोग से पहिले क्रियायोग बतलाया गया है। तप, (कठोर और भोगरहित जीवन) स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति का नाम क्रियायोग है * इस क्रिया योग से 'समधि' करने की योग्यता होती और क्लेश क्षीण होते हैं। ×

१० पांच क्लेश) क्लेश ५ हैं। *जिनमें अविद्या विपरीत-ज्ञान को कहते हैं। जैसे अनित्यादि पदार्थों में नित्य आदि होनेकी बुद्धि होना। + अशुद्ध शरीर को शुद्ध समझना इत्यादि। आत्मा और बुद्धि को अलग २ न समझकर एक ही समझना ◻ अस्मिता है। किसी पदार्थ से सुख होने के पश्चात् उस सुख की वासना राग है। ० इसी प्रकार द्वेष की वासना

---

* तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योग पा० २ सू० १

× समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च। योग पा० २ सू० २

* अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः। पा० २ सू० ३

+ अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। पा० २ सू० ५

◻ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता पा० २ सू० ६

० सुखानुशयी रागः पा० २ सू० ७

द्वेष ✽ तथा मरने का डर जो प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। और जो यह भी सूचित करता है कि पूर्वजन्म में मरने का कष्ट हो चुका है अभिनिवेश + कहाता है।

११ क्लेशों की चार अवस्थायें) क्लेशों की चार अवस्थायें हैं ०(१) उदार जिसमें क्लेश अपना पूर्णरूप प्रकट किये हुये वर्तमान हैं (२) विच्छिन्न, जिसमें क्लेश रुक २ कर थोड़े २ अन्तर से हों (३) तनु जिसमें क्लेश बहुत ही कम हो जावें (४) प्रसुप्त जिस में क्लेश सोयी अवस्था में हो अर्थात् कार्यक्षम न हों परन्तु बीजभाव से विद्यमान हों। इन चारों अवस्थाओं में क्लेशों का मूल अविद्या ही है।

१२ क्लेशों का नाश) क्रियायोग से क्लेश (तनु) कमज़ोर होजाते हैं ध्यान के द्वारा उन तनु हुये क्लेशों को सूक्ष्म अवस्था में नष्ट करना चाहिये () और सूक्ष्म हुये क्लेश मोक्ष के समय चित्त के प्रलय के साथ २ नष्ट होजाते हैं :०:

१३ क्लेशों का फल) इस जन्म और अगले जन्म में कर्मों का फल क्लेशों के द्वारा ही होता है ✽ क्योंकि क्लेश ही वासना को बनाते हैं। क्लेशों के होने पर ही जन्म आयु और

✽ दुःखानुशयी द्वेषः। यो० पा० २ सू० ८

+ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः। यो०पा०२सू०९

० अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्। यो० पा० २ सू० ४

() ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः। यो० पा० २ सू० ११

:०: ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः यो० पा० २ सू० १०

✽ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः यो०पा०२सू०१२

भोग का फल मिलते हैं। + ये जन्म आदि यदि पुण्य के फल होते हैं तो सुखरूप और यदि पाप के फल होते हैं तो दुःखरूप होते हैं। ०

१४ योगी के लिये सब दुःख ही है] परन्तु 'योगी' के लिये तो सब दुःख ही दुःख है, अर्थात् जिसे लोग सुख समझते हैं वह भी दुःख ही है, क्यों कि सब सुख परिणाम में दुःख ही देता है, कारण कि इन्द्रियों के भोगों की तृप्ति नहीं हो सकती और सुख तथा दुःख के साधनों से हमारा राग द्वेष बढ़ता जाता है। सुख अपना संस्कार छोड़ता है उस संस्कार के द्वारा जब हमें अनुभूत सुख की स्मृति होती है तब भी दुःख होता है। इसी प्रकार सत्व, रजस् और तमस् इनके पारस्परिक विरोधसे भी दुःख होता है क्यों कि जब एक गुण उठता है तो उसे दूसरा आ दबाता है इसप्रकार पारस्परिक विरोध बना ही रहता है। इस लिये योगी सारे संसार को ही दुःखमय देखता है।()

१५ वर्ग चतुष्टय] 'योग' तथा अन्य शास्त्रोंमें भी (१) हेय (२) हेयहेतु (३) हान (४) हानहेतु यह वर्ग चतुष्टय माना गया है। इनमें हेय (त्याज्य) दुःखहै और वह भी अनागत अर्थात् भविष्य

+सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ यो० पा०२सू०१३

० ते ह्लादपरितापफलाः, पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

योग पा० २ सू० १४.

() परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ योग पा० २ सू० १५

में आनेवाला दुःख:०: क्योंकि भूतकाल का दुख होही चुका और वर्तमान काल का दुःख भी इस क्षण में समाप्त होजायगा। हेयहेतु अर्थात् दुःख का हेतु पुरुष और प्रकृति अथवा पुरुष और बुद्धि का संयोग ※ है इस पुरुष और बुद्धि के संयोग का कारण अविद्या + या अज्ञान है। इस प्रकार बुद्धि और पुरुष का संयोग हेयहेतु है। हान अर्थात् दुःखों का नाश होना () कैवल्य या मोक्ष है। वह अविद्या के नष्ट होने पर पुरुष और बुद्धि के संयोग का नष्ट होना है और हानोपाय दुःखनाश का उपाय लगातार रहने वाली विवेकख्याति ० अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्याति या प्रकृति और पुरुष को अलग २ समझना है। क्योंकि विवेक से अविद्या के नष्ट होने पर पुरुष का संयोग नहीं होता और संयोग ही दुःख का कारण है। संयोग के न होने पर दुःख भी नहीं होता और दुख के अभाव का नाम ही 'कैवल्य' या मोक्ष है। इसके आगे द्वितीय पाद में अष्टाङ्गों का वर्णन जिसका विस्तार हम अगले परिच्छेद में करेंगे इसलिये उसे यहाँ छोड़ते हैं।

:०: हेयं दुःखमनागतम्। यो० पा० २ सू० १६

※ द्रष्टृदृश्ययोःसंयोगोहेयहेतुः यो० पा० २ सू० १७

\+ तस्य हेतुरविद्या यो० पा० २ सू० २४

() तदऽभावात्संयोगाऽभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् यो० पा० २ सू० २५

० विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः यो० पा० २ सू० २६

विभूतिपाद] इसमें प्रारंभ में योग के आठ अङ्गों में से तीन अन्तरङ्गसाधनों का वर्णन है। इनका विवेचन तो हम अगले परिच्छेद में करेंगे। इसके पश्चात् योगी की अनेक विभूतियें सिद्धियें बतलायी गयी हैं। इन सिद्धियों को बहुत से लोग असम्भव समझते हैं और बहुत से उनमें विश्वास करते हैं। यहां विभूतियों की यथार्थता के विषयमें हम विवाद नहीं उठाना चाहते परन्तु अधिकतर विभूतियों की यथार्थता, समझ में आजाती है। यह भी स्मरण रखना चाहिये एक योगी का विभूतियां का बढ़ाना उसके योगाभ्यास में बाधक है क्यों कि विभूतियें उसे संसार की ओर खींच लाती हैं इसलिये योग में बतलाया गया है कि विभूतियें व्युत्थान* की अवस्था में सिद्धियें हैं, परन्तु योग में बाधक हैं।+ यहां हम कुछ थोड़ी सी योग की विभूतियां का निर्देश करेंगे।

भिन्न २ जो परिणाम होते हैं उन में संयम करने से अर्थात्, धारणा, ध्यान, समाधि के करने से भूतभविष्य का ज्ञान हो जाता है। शब्द अर्थ और ज्ञान इन के

---

* चित्त की एकाग्र अवस्था का नाम समाधि या योग की अवस्था है। उसके विपरीत अवस्था का नाम व्युत्थान अवस्था है जबकि चित्तकी वृत्तियें इधर उधर दौड़ती रहतीहैं।

\+ ते समाधावुपसर्गाःव्युत्थाने सिद्धयः। योग पा०३ सू०३६

२ परिणामत्रय संयमादतीतानागतज्ञानम्॥ योग पा०३ सू०१६

अलग होने में (अविभाग) में संयम करने से सब प्राणियों की बोली आजाती है। * भूत भविष्य का ज्ञान होना तथा सब प्राणियों की बोली का समझ में आजाना यह बातें असम्भव प्रतीत होंगी परन्तु थोड़ा सा ध्यान देने से इनका संभव होना समझमें आजाताहै। भूतभविष्य की सारी घटनायें कार्य-कारण सम्बन्ध की गांठ से बंधी हुयी हैं। और जब कोई मनुष्य भिन्न २ प्रकार से जो परिणाम होते हैं उनपर एकाग्रचित्त होकर संयमकरे, तो यह संभवही प्रतीत होताहै कि उसे भूत और भविष्य की बातों का ज्ञान हो। विभूति में यह नहीं कहा गया है कि भूत और भविष्य की सब बातों का ज्ञान हो जाता है। परन्तु जिन विषयों के कार्यकारण पूर्वक परिणाम पर विचार किया जाता है उनका भूत भविष्य पता चल जाता है। इसी प्रकार किसी २ पशु को ज्ञान शब्दार्थ सम्बन्ध की विवेचना पर निर्भर है। जो मनुष्य जिस पशु की बोली में इस बात पर विचार करेगा किसी प्रकार की बोलीसे किस प्रकार का बोध होता और इन भेदों को अच्छी तरह समझ लेगा उस के लिये यह असम्भव नहीं है कि वह उस पशुविशेष की बोली समझने योग्य होजाय। इसीप्रकार गहरा विचार करने पर पता चलेगा कि और भी योगसिद्धियां संभव हैं।

---

* शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्। योग पा० ३ सू० १७

कुछ विभूतियां] संस्कारों के साक्षात करने से पहिले जन्म का ज्ञान होजाता है, ※ क्योंकि संस्कार पहिले जन्म के अनुसार ही बनते हैं। प्रत्यय (ज्ञान) के साक्षात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होजाता है × शरीर के रूप में संयम करने से यह शक्ति उत्पन्न होती है कि उस शरीर की ग्राह्यता के रोक देने पर दूसरे के चक्षुओं का उस शरीर से सम्बन्ध नहीं होता इसप्रकार संयमी का शरीर अन्तर्द्धान हो सकता है ◇ कर्म दो प्रकार के हैं एक जिन का शीघ्र ही फल होता है, दूसरे जिनका देरसे फलहो, उन कर्मों में संयमसे मृत्युसमय का ज्ञान होता है ⓖ मैत्रीकरुणा आदि में संयम करने से मैत्रीकरुणा आदि का बल उत्पन्न होता है ▣ हाथी के बलमें संयम करने से उसके समान बल प्राप्त होता है* मनकी ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश से सूक्ष्म, व्यवधान सहित तथा दूर के पदार्थों का बोध होता है + सूर्य में संयम से संसार का ज्ञान होता है ()

※ संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् । योग पा०३सू०१८

× प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् । योग पा० ३ सू० १९

◇ कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुःप्रकाशऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् । योग पा० ३ सू० २०

ⓖ सोपक्रमं निरुपक्रमंच कर्म तत्संयमादऽपरान्त ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । योग पा० ३ सू० २१

▣ मैत्र्यादिषु बलादीनि । योग पा० ३ सू० २२

* बलेषु हस्तिबलादीनि । योग पा० ३ सू० २३

+ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् । सू०२४

() भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् २ सू० २५

चन्द्र में संयम करने से तारान्यूह का ज्ञान होता है। + ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का ज्ञान होता है। ▣ नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के संगठन का ज्ञान होता है ◎ कण्ठकूप (जिह्वा के नीचे तन्तु उसके नीचे कण्ठ और उसके नीचे कूप है) में संयम करने से भूख प्यास की निवृत्ति हो जाती है। ‡ कूर्मनाड़ी (कूप से नीचे छाती में हृदय पुण्डरीक नामक नाड़ीचक्र कूर्माकार है) में संयम करने से स्थिरता होती है। * इसी प्रकार इस सारे विभूतिपाद में और भी अनेक सिद्धियें बतलायी गयी हैं जिन्हें यहां विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं।

१२ अणिमादि ८ सिद्धियां] इन्हीं विभूतियों के प्रकरण में अणिमादि आठ सिद्धियें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जिन का अर्थ इस प्रकार है:—

अणिमा—योगी अपने शरीर को अत्यन्त सूक्ष्म बना सकता है।

लघिमा—वह अपने शरीर को अत्यन्त हलका कर सकता है।

+ चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्। योग पा० ३ सू० २६।
▣ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। योग पा० ३ सू० २७।
◎ नाभिचक्रे काय व्यूह ज्ञानम्। योग पा० ३ सू० २८।
‡ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। योग पा० ३ सू० ३६।
* कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। योग पा० ३ सू० ३०

गरिमा- यह अपने शरीर को अत्यन्त भारी कर सकता है।
महिमा- यह अपने शरीर को अत्यन्त बड़ा कर सकता है।
प्राप्ति- उसे प्रत्येक वस्तु की प्राप्ति हो सकती है।
प्राकाम्य- अर्थात् उसकी इच्छा का कभी विघात नहीं होता।
वशित्व- सब भूतों को वह अपने वश में कर सकता है।
ईशितृत्व- सब भूतों का वह ईश भी होता है।

इसी प्रकार और भी बहुत सी विभूतियाँ हैं। जिन का वर्णन यहां छोड़ दिया गया है।

कैवल्यपाद] कैवल्य का अर्थ मोक्ष है। परन्तु इस पाद के केवल अन्तिम भाग में मोक्षसिद्धान्त का वर्णन है। अधिक हिस्से में और बहुत से दार्शनिकसिद्धान्तों की विवेचना है उनका कुछ संक्षेप किया जायगा।

पांचसिद्धियें] पाद के आरंभमें विभूतियों का ही विषय चला जाता है। आरम्भ में बतलाया गया है कि सिद्धियें पाँच प्रकार से होतीहैं। जन्मसे, औषधियोंसे, मन्त्रसे, तपसे और समाधि से* इनपाँच प्रकारों से भिन्न २ रूपमें सिद्धियें होतीहैं साथ ही बतलाया गया है कि योगी के नये २ शरीर पूर्व शरीरों के नष्ट होने पर बनते हैं; उनकेविषय मेंप्रश्न उठा है कि वे किस प्रकार बनतेहैं। इसका उत्तर यह है कि शरीर बनाने वाली प्रकृति

---

* जन्मौषधिमन्त्रतपस्समाधिजाः सिद्धयः। योग पा०४ सू०१

(उपादान कारण) के चारों ओर से स्वयं आघिरने से। *
तात्पर्य यह है कि नये शरीर को बनाने वाला धर्म(अदृष्ट) इन प्रकृतियों के सब ओर से आघिरने का निमित्त नहीं है, किन्तु यह धर्म रोक (वरण) कोहटा देता है जिससे प्रकृति नये शरीर को बनाने के लिये स्वयं आघिरती है। जैसे किसान नीचे खेत में जब पानी देना चाहता है तब पानी को नीचे आने के लिये प्रेरित नहीं करता किन्तु रोक हटा देता है और पानी स्वतः नीचे चला जाता है। + फिर आगे कहा गया है कि उस योगी के अनेक शरीरों में नये चित्त सङ्कल्प मात्रसे उत्पन्न होते हैं ▪ जब उन अनेक चित्तों की अलग २ प्रवृत्तियें होतीं हैं तब मुख्य चित्त—अर्थात् जो कि सङ्कल्प का बनाया नहीं है किन्तु पहिले से है, उन सब चित्तों का नियामक है। ×

वासनायें और कर्म] सङ्कल्प से बने चित्तों में वासनायें नहीं रहती। :०: क्योंकि कर्म चार प्रकार के हैं, एक शुक्ल (पुण्य रूप) दूसरे कृष्ण, (पापरूप) तीसरे शुक्लकृष्ण। (जिसमें पुण्य पाप दोनों मिले हों) और चौथे अशुक्लाकृष्ण, अर्थात् जिस में पुण्य पाप कुछ नहीं होता और योगी के कर्म चौथे प्रकार के होते हैं। इस लिये उन से वासना नहीं

---

* जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्। योग पा ४ सू० २

+ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः, क्षेत्रिकवत्। योग पा० ४ सू० ३

▪ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। योग पा० ४ सू० ४

× प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्। योग पा० ४ सू० ५

:०: तत्र ध्यानजमनाशयम्। योग पा० ४ सू० ६

बनती. परन्तु दूसरे लोगों के कर्म ऊपर बतलाये तीन प्रकारों के होते हैं + उन तीन प्रकारों के कर्मों से उन कर्मों के फल देने में समर्थ वासनाओं की उत्पत्ति होती है।* वे वासनायें यद्यपि जन्म देश और काल के कारण कर्मों से व्यवहित हैं। परन्तु फिर भी उन्हें कर्मों के साथ ही समझना चाहिये क्योंकि वासनायें संस्काररूप हैं। जैसा कर्म होता है उससे वैसी ही वासना बनती हैं और जैसी वासना या संस्कार हो वैसी ही स्मृति होती है। इस प्रकार कर्म और वासना का सम्बन्ध है, [□] वासनायें अनादि हैं क्योंकि 'मैं न मरूं' यह इच्छा नित्य है ॐ न मरने की इच्छा पूर्वजन्म को बतलाती है और इस प्रकार अनादि काल से पूर्वजन्म और अनादिवासनायें हैं। इन वासनाओं का अभाव तब होता है जबकि धर्माधर्म सुख दुःख राग द्वेषरूप हेतु पुरुषार्थ फल और वासनाओं के आश्रय चित्त इसका नाश हो जाता है।(@)

सत्कार्यवाद] इसके आगे यह प्रश्न है कि योग सत्कार्यवादी है उसके मत में किसी विद्यमान वस्तु का कभी नाश नहीं होसकता फिर चित्त का कैसे नाश होता है। इसका

+ कर्माऽशुक्लाऽकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

योग पा० ४ सू० ७

* ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम्।

योग पा० ४ सू० ८

[□] जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

योग पा० ४ सू० ९

ॐ तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्। योग पा० ४ सू० १०

(@) हेतुफलाश्रयालम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।

योग पा० ४ सू० ११

उत्तर यह है कि भूत और भविष्य वस्तुओं का भी स्वरूप से सत्ता रहती है केवल वर्तमान से उनका धर्म का (अर्थात् स्वभाव का) भेद है+ वर्तमान व्यक्तरूप है अर्थात् वर्तमान में द्रव्यरूपेण पदार्थ व्यक्त होता है । भूत भविष्य में वह सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है । यह सबपदार्थ सत्व रजस् और तमस् इनतीनों गुणों के ही विशेष २ सन्निवेश संगठन) से बने हैं।

२३ बाह्यवस्तु का रूप) यदि सब गुण ही हैं—तो एक वस्तु कैसे प्रतीत होती है; इसका उत्तर है कि 'अनेक गुण' 'एक वस्तु' के रूप में परिणत हो जाते हैं। सत्व, रजस् और तमस् तीनों का करणरूप एक परिणाम श्रोत्रेन्द्रिय है । इसी प्रकार अन्यत्र भी अनेक गुणोंसे एकवस्तु परिणत हुयीहै@बौद्ध लोग कहते हैं कि चित्तके भिन्न२ ज्ञानों के अतिरिक्त बाह्यपदार्थ नहीं? परन्तु उस बौद्धमतमें यह कैसे होसकताहै कि एक स्त्रीरूप वस्तुको तीन मनुष्य तीन २ भिन्न २ प्रकारसे देखतेहैं। ० परन्तु ज्ञान के भिन्न २ होने पर भी वे स्त्रीरूप पदार्थ को एक ही समझते हैं । यदि ज्ञान और 'वस्तु' एक ही हों तो उन्हें 'एक स्त्रीरूप' पदार्थ के बदले तीन पृथक् पदार्थों को मानना चाहिये ।

+ ते व्यक्तसूक्ष्माःगुणात्मानः । योग पा० ४ सू० १३

@ परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम् । योग पा० ४ सू० १४

० वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः । योग पा० ४ सू० १५

और यदि बाह्यवस्तु को चित्त का ज्ञानरूप ही समझा जावे तो क्या जब चित्त इधर उधर व्यग्र होता है तब बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं रहती? * ऐसा कोई मान नहीं सकता. इसलिये. मानना पड़ेगा कि बाह्यवस्तु की चित्त से पृथक् सत्ता है और उस बाह्यवस्तु के उपराग पड़ने पर ही चित्त को वस्तु ज्ञान होता है। + यदि हम बाह्यवस्तुओं को न मानें तो चित्त की सब वृत्तियां सदा ही ज्ञात होनी चाहियें क्यों कि पुरुष तो अपरिणामी है ० वह सदा एक सा ही रहता है। परन्तु जब बाह्यवस्तु को स्वीकार करते हैं तो बाह्यवस्तु के सम्बन्ध न होने पर उस विषय की चित्तवृत्ति ज्ञात नहीं होती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'चित्त' की वृत्तियों के अतिरिक्त बाह्यपदार्थों की सत्ता है।

२४ पुरुष और चित्त] आत्मा यद्यपि अपरिणामी है परन्तु वह बुद्धि की वृत्तियों में प्रतिबिम्बित है और इस प्रकार बुद्धि वृत्तियों का बोध आत्मा को होता है ❀ चित्त पर आत्मा और विषय दोनों का उपराग (छाया, या आभास) पड़ता है इसलिये 'चित्त' ही सब आकारों में दीखता है () और यही कारण है कि बौद्धोंने 'चित्त' को ही आत्मा मानलिया। वह 'चित्त' अनेक:

---

* न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।
योग पा० ४ सू० १६॥

+ तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताऽज्ञातम्।
योग पा० ४ १७॥

० सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात्।
योग पा० ४ सू० १८॥

❀ चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।
योग पा० ४ सू० २२॥

() द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्। योग पा० ४ सू० २३॥

वासनाओं से चित्रित है परन्तु दूसरे के लिये अर्थात् आत्मा के लिये उसकी सत्ता है। (§) इस प्रकार चित्त से पृथक् आत्मा है। योगी जो आत्मा और चित्त की विशेषता को समझ लेता है वह 'चित्त' को आत्मा नहीं मानता। ×

२५ विवेक ज्ञान—सांसारिक मनुष्य का चित्त अज्ञान की नीची भूमि की ओर बहता हुआ विषयों की ओर जाता है परन्तु योगी का चित्त विवेक की नीची भूमि में बहता हुआ 'मोक्ष' की ओर जाता है। ◇ परन्तु इस विवेक की अवस्था में भी पुराने संस्कारों के कारण बीच २ में अज्ञान की वृत्तियें उत्पन्न होती रहती हैं ◎ जिस प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर क्लेस जले हुये बीज के समान फिर उत्पन्न नहीं हो सकते, इसी प्रकार पूर्व संस्कारों को भी ज्ञानाग्नि से भस्म कर देना चाहिये जिससे पुनः प्रत्यय उत्पन्न न हो सकें। ▣

२६ धर्ममेघ समाधि] जिस समय चित्त और पुरुष के पृथक् २ स्वरूप ज्ञान की विवेकख्याति में योगी विरक्त हो जाता है, व्युत्थान संस्कारों के न उठने से सदा विवेक-ख्याति बनी रहती है, उसका नाम 'धर्ममेघ' समाधि है। (:०:) अर्थात् यह समाधि आत्मसाक्षात्कार रूप 'धर्म' की वृष्टि करती

(§) तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्
योग० पा० ४ सू० २४

× विशेषदर्शिन आत्मभाव भावनानिवृत्तिः योग पा०४सू०२५

◇ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्। योग पा०४सू०२६

◎ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः योग पा० ४ सू० २७

▣ हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।

:०: प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघ समाधिः। योग पा० ४ सू० २६ ॥

है। असम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा धर्ममेध समाधि ही है। इस अवस्था में क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होजाती है। ※ इसी का नाम जीवनमुक्त अवस्था भी है। इसमें सर्व दोषों से रहित ज्ञान बहुत विस्तृत होजाता है और ज्ञेय बहुत थोड़ा रहजाता है। ▣ और इस प्रकार सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों का कार्य पुरुष को (मोक्ष भागी बना) कर पूरा हो जाता है। और फिर इनका पुनः परिणाम नहीं होता +। क्योंकि गुणों का प्रयोजन भोग और अपवर्ग ही है वह समाप्त हो जाता है। परन्तु यह गुणों के परिणाम की समाप्ति उसी के लिये है जो जीवन्मुक्त हो जाता है।

२७ कैवल्य का स्वरूप) इस पाद के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का स्वरूप बतलाया गया है और वह इस प्रकार, कि पुरुषार्थ शून्य गुणों का अपने कारण में लय हो जाना और आत्मा का अपने स्वरूप में हो जाना ही मोक्ष है। ◎ भोग और अपवर्गरूप उद्देश्य के पूरे होने पर योगी का चित्त अपने कारण प्रकृति में मिल जाता है और आत्मा का अपना स्वरूप रह जाता है। बस इसी का नाम पुरुष की मोक्ष है।

※ ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः योग पा० ४ सू० ३०

▣ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्
योग पा० ४ सू० ३१

+ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्
योग पा० ४ सू० ३२

◎ पुरुषार्थशून्यानां गुणानांप्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। योग पा० ४ सू० ३४

षष्ठ परिच्छेद

अष्टाङ्गयोग–पँच वहिरङ्ग साधन

———:o:———

१ अष्टाङ्गयोग एक अपूर्व वैज्ञानिक प्रणाली) इस निबन्ध का मुख्य विषय अष्टाङ्ग का वर्णन करना है, क्योंकि वह साधन जिसके द्वारा संसार के दलदल में फंसे हुये, तथा इन्द्रियों में रत, जिनका चित्त प्रत्येक समय चञ्चल हो रहा है, ऐसे मनुष्य भी योग तक पहुंच सकते हैं। अष्टाङ्ग योग एक ऐसी प्रणाली है जिसके द्वारा मनुष्य क्रमशः योग के रास्ते में एक २ पग बढ़ाता जाता है। यह मार्ग महर्षि पतञ्जलि ने ऐसी स्पष्टना के साथ वर्णन किया है कि प्रत्येक मनुष्य अच्छी तरह समझ सकता है। आधुनिक विज्ञान की पुस्तकों में किसी परीक्षण की विधि इतनी स्पष्टता से दी जाती है कि प्रत्येक मनुष्य उस के अनुसार परीक्षण (experiment) को पूरा कर सके। प्रथम यन्त्रों को परस्पर एक दूसरे के साथ फिट करना फिर एक के पश्चात् दूसरा काम किस तरह किया जाता है यह सब कुछ अच्छी तरह बतलाया जाता है। परीक्षण के प्रत्येक अङ्ग का सुस्पष्ट वर्णन होता है। इसी तरह शरीरविद्या (Anotomy) में जब चीर फाड़ के विषय में कोई परीक्षण बतलाया जाता है तो उसमें स्पष्टरूप से बतला दिया जाता है कि प्रथम किस तरह त्वचा पर चीरा देना चाहिये फिर उसे एक चिमटी से उठाकर एक हाथ से पकड़कर क्या करना चाहिये इसी तरह से एक के पश्चात्

दूसरी बात बड़ी स्पष्टता से ही होती है। यहां इन बातों का उदाहरण देने से प्रयोजन यह है कि पाश्चात्य विज्ञानों की सब मे बड़ी विशेषता यह है कि उन में प्रक्रिया या प्रणाली जिसे 'मेथड'(Method) कहते हैं पाया जाता है। प्रत्येक बात एक स्पष्ट प्रक्रिया या प्रणाली के द्वारा प्रतिपादित की जाती है। अष्टांग योग के विषय में सब से अपूर्व बात यह है कि उसमें आश्चर्यजनक और अपूर्व वैज्ञानिक प्रक्रिया पायी जाती है। एकके पश्चात् दूसरा योग का अंग ऐसा सुसम्बद्ध और क्रम-पूर्वक है कि उसे समझना और उस पर आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये संभव है। दुनियावी धंधों में फंसे हुये आदमी के लिये एक साथ ऐसा ऊंचा उपदेश नहीं दिया गया है जिस का वह पालन हो न कर सके। प्रत्युत ऐसा मार्ग बतलाया गया है जिसपर धीरे २ चलता हुआ वह योग के ऊंचे शैल पर चढ़ सकता है। योग के एक अंग के पालन करने के पश्चात् मनुष्य दूसरे के योग्य बन जाता है। और इस प्रकार वह अन्त तक पहुंच जाता है। 'समाधि' जो कि आरंभ में एक कठिन और दुर्गम वस्तु दीखती है। क्रमशः योग के प्रत्येक अंग का पालन करने से अत्यन्त सरल हो जाती है।

२ शैल पर पहुंचने के दो मार्ग] पहाड़ की ऊंची चोटियों पर चढ़ने के दो प्रकार होते हैं एक तो चक्करदार मार्ग होते हैं जिन पर चढ़ते हुये धीरे २ ऊपर तक पहुंचते हैं। और दूसरे सीधे रास्ते जिन्हें शार्टकट (short-cut) या संक्षिप्त मार्ग कहते हैं, होते हैं,। चक्करदार रास्ता उनके लिये होता

है जिन्हें पहाड़ पर चलने का अभ्यास नहीं, यदि वे सीधे रास्ते से एक साथ ऊपर चढ़ने लगें तो फिसलने का डर बना रहता है परन्तु पहाड़ी लोग एक साथ इन्हीं सीधे रास्तों से ऊपर तक दौड़ जाते हैं। इस प्रकार 'योग' में दो मार्ग बताये गये हैं एक तो उन लोगों के लिये है जिनकी पूर्व संस्कारों के द्वारा योग में प्रवृत्ति और योग्यता है यह प्रथम पाद में बतलाया अभ्यास वैराग्य का मार्ग है यह योग का 'शार्टकट' है। परन्तु जिनके अन्दर योग के उच्च संस्कार नहीं उनके लिये अष्टाङ्ग योग का रास्ता है। जिसके द्वारा वे धीरे २ चढ़कर 'योग' की ऊंची चोटी (समाधि) तक पहुंच सकते हैं। यदि संस्कार रहित मनुष्य अभ्यास वैराग्य के सीधे रास्ते पर चलना चाहें तो उनके लिये फिसलने के लिये योगभ्रष्ट होने का डर हर समय बना रहता है।

पञ्चबहिरङ्ग साधन] इन आठों अङ्गों में पांच बहिरङ्ग साधन बतलाये गये हैं। ये पांच बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार है। ये केवल योग की बाहरी तैयारी है। इन के द्वारा हम अपने शरीर और इन्द्रियों को इस योग्य बनाते हैं कि वह 'योग' के साधन में हमारे सहायक हो सकें। असली योग तीन अन्तरङ्ग साधनों में है। परन्तु हम बिना बहिरङ्ग साधनों का पालन किये अन्तरंग साधनों का पालन नहीं कर सकते, योगरूप परीक्षणमें पांच बहिरंग साधन सब यन्त्रों को परीक्षण के योग्य स्थिति में ठीक कर देने के समान है और अगले तीन अंग परीक्षण

रूप है। बिना यन्त्रों को ठीक किये परीक्षण नहीं हो सकता हो सकता इसी प्रकार बिना पांच बहिरंग साधनों के योग नहीं हो सकता। इन की अधिक उपयोगिता आगे पता लगेगी।

यम, नियम] सब से पहिले योग के दो अङ्ग यम और नियम हैं। अहिंसा; सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य 'अपरिग्रह' येपांच यम हैं तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम हैं। प्रारम्भ में यह कठिनता से समझ में आवेगा कि इन यम नियमादि का 'योग' या समाधि से क्या सम्बन्ध हो सकता है, और यह उसमें कैसे सहायक हो सकते हैं। आगे चल कर हम देखेंगे कि 'यम नियम' ही योग की पहिली सीढ़ी है। प्रथम हम पांचों नियमों की व्याख्या करेंगे।

५ यम और नियम का सम्बन्ध) अलग २ व्याख्या करने से पूर्व यह यह बतला देना आवश्यक है कि यम और नियमों में क्या सम्बन्ध है? यहां पर इतना बतला देना पर्याप्त होगा कि यमों का सम्बन्ध समाज से है उनके द्वारा यह बतलाया गया है कि ऐसे मनुष्य को जो योग के रास्ते में चलना चाहता है समाज के सम्बन्ध में किन बातों का पालन करना चाहिये और नियम केवल व्यक्ति तक सीमित हैं अर्थात् उन नियमों का असर केवल पालन करने वाले व्यक्ति तक है और यमों का प्रभाव समाज तक है।

६ अहिंसा) पांचों यमों में पहिली अहिंसा है। अगले यम उस अहिंसा के आधार पर ही हैं, वे सब प्रकारसे अहिंसा के अन्दर आजाते हैं इस लिये 'अहिंसा' सब यमों का मूल

है कि अहिंसा का अर्थ यह है कि किसी दशा में किसी प्राणी को मन, वचन, कर्म से कोई कष्ट न पहुंचाना, मन से किसी का अनिष्ट न सोचना, वाणी से कठोर वचन न कहना; और अन्त में शरीर या कर्म से उसे किसी प्रकार पीड़ा न पहुंचाना। उसे 'सत्य' का 'योग' के लिये सबसे पहिले अहिंसाव्रत का पालन आवश्यक है। योग में बताया गया है कि जो अहिंसाव्रत पालन करता है उसके लिये और प्राणी भी वैर त्याग देते हैं * उसके समीप हिंसक भी अपनी हिंसा-वृत्ति छोड़ देते हैं। पुराने ऋषियों के सामने सिंह घूमते रहते थे और उनका कुछ न बिगाड़ते थे। सिंह और बकरी के एक घाट पानी पीने की बात 'अहिंसा' व्रत से ही सम्भव है।

(७ सत्य) सत्य का अर्थ वाणी और मन का एक सा होना है। जैसा देखा, सुना या जाना हो वैसा ही कहना उससे विपरीत न कहना किसी दशा में किसी को भ्रम में न डालना ही सत्य है। जो 'सत्य' के व्रत को पूरा कर लेता है उसी की वाणी में यह शक्ति होती है कि वह जैसा कह दे वही होता है। @ अर्थात् उसकी वाणी असाधारण प्रभाव वाली होती है। एक कवि ने ठीक कहा है कि:—विद्वान् की वाणी अर्थ के अनुकूल होती है अर्थात् जैसा होना होता है वही वे कहते हैं परन्तु ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ चलता है अर्थात् जो कुछ वे कहते हैं वही होता है।

* अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। पा० २ सू० ३५
@ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। पा० सू० ३६

८ अस्तेय] 'अस्तेय' का अर्थ 'चोरी' न करना है। अर्थात् चोरी न करना, कर्म से ही नहीं अपितु मनसे भी किसी के पदार्थ को बिना उसकी अनुमति के ग्रहण करने की इच्छा न करना ही 'अस्तेय' है। अस्तेयव्रत के पालन करने से सारे संसार के रत्न उसे मिल जाते हैं * अर्थात् उसे उनकी आकांक्षा न रहने से वे रत्न मिलने के ही बराबर हैं।

९ ब्रह्मचर्य] उपस्थेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है ब्रह्मचर्य का व्रत पालन करने से वीर्यलाभ होता है @ जो अब्रह्मचारी और क्षीण-वीर्य हैं वे योग के मार्ग पर नहीं चल सकते। सांसारिक भोगों से मन को हटाने का सब से बड़ा साधन ब्रह्मचर्य है, जो 'वीर्यवान्' नहीं है वह आत्मा को नहीं जान सकता। उपनिषद् कहती है 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' अर्थात् कमज़ोर आदमी आत्मा को नहीं पा सकता।

१० अपरिग्रह] अपरिग्रह का अर्थ सांसारिक वस्तुओं को बहुत इकट्ठा न करना है। आवश्यकता से अधिक वस्तुयें न रखना चाहिये क्यों कि वे वस्तुयें भोग में प्रवृत्ति करती हैं और मनुष्य को संसार में लिप्त कर देती हैं। अपरिग्रह-व्रतपूर्ण पालन करने से मनुष्य को पहिले और अगले जन्म का ज्ञान हो जाता है (०) क्योंकि जो मनुष्य सांसारिक वस्तुओं का सर्वथा त्याग करता चला जाता है उसका चित्त अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है।

---

* अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। पा० २ सू० ३७

@ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। पा० सू० ३८

(०) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। पा २ सू० ३८

११ अहिंसा सब यमों का मूल है] जो अहिंसा व्रत का पालन करता है वह असत्य भाषण नहीं कर सकता क्योंकि असत्य किसी को कष्ट पहुंचाने के लिये ही बोला जाता है। वह चोरी नहीं कर सकता क्योंकि उससे दूसरे को पीड़ा पहुंचेगी, वह ब्रह्मचर्य धारण करेगा, क्योंकि ब्रह्मचर्य के त्याग से वह जिसे भोग का साधन बनाता है उसे हानि पहुंचाता है। वह बहुत चीज़ों का संग्रह कर ही नहीं सकता क्योंकि वस्तुओं का संग्रह करने में दूसरों को कष्ट पहुंचाना ही पड़ता है।

१२ सार्वभौमव्रत] बतलाया गया है कि पाँचों यम सार्वभौम होने चाहिये अर्थात् वे जाति, देश, काल से सीमित न हों।* जैसे कोई किसी देश विशेष या समय विशेष में हिंसा न करे इसीप्रकार किसी विशेष समय, देश या जाति के विषय में, झूंठ, चोरी, आदि न करे। तो यह यमों का वास्तविक पालन करना नहीं है। उसे चाहिये कि सब देश सब जाति और सब समय में भी अहिंसा आदि पांचों ही यमों का पालन करे, तब ही यमों का व्रत 'सार्वभौमव्रत' (सब अवस्थाओं में पालन) कहलाता है।

१३ शौच] पांचों नियमों में प्रथम शौच है जिसका अर्थ शुद्धि है। शारीरिक और मानसिक दोनों ही शुद्धियें शौच के अन्तर्गत हैं। शौच से अपने शरीर से घृणा हो जाती है क्योंकि यह पता चल जाता है कि यह शरीर किस प्रकार

---

* जातिदेशकालसमयाऽनवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
योग पा० २ सू० ३१

मलों का घर है और जब अपने से ही घृणा हुयी तब दूसरों से तो और भी अधिक घृणा हो जाती है, इसलिये औरों से संसर्ग छूट जाता है+

१४ सन्तोष] जो वस्तु अपने पास है उस से अधिक लेने की इच्छा न करना। इस प्रकार 'सन्तोष' व्रत धारण करने से 'अनुत्तम सुख' अर्थात् जिससे बढ़ कर कोई सुख नहीं वह सुख मिलता है। @ संसार में किसी को चाहे कितना ही मिल जावे परन्तु यदि उस के अन्दर असन्तोष है तो दुःख बना ही रहेगा। इसलिये सन्तोष ही सुख का परम मूल है।

१५ तप] तीसरा नियम 'तप' है। तप 'द्वन्द्वसहन' को कहते हैं। द्वन्द्वसहन का अर्थ यह है कि मनुष्य, सरदी, गरमी, भूख, प्यास आदि को सह सके। तप से मल दूर हो जाता है जिस तरह आग में पड़ने से सुवर्ण का मल दूर हो जाता है, इसीप्रकार 'तप' रूपी आग में मनुष्य का मल दूर हो जाता है और शरीर तथा इन्द्रियों की अपूर्वसिद्धि उसे प्राप्त होती है। अणिमादि आठ विभूतिये शरीरसिद्धि हैं तथा दूर से सुन सकना आदि इन्द्रियसिद्धि हैं ().

१६ स्वाध्याय] उपनिषद् आदि आत्मतत्त्वसंबंधी ग्रन्थों का पढ़ना स्वाध्याय है। योग के रास्ते पर चलने के लिये आवश्यक है कि ऐसी पुस्तकों का अध्ययन किया जावे।

+शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। पा० २ सू० ४०

@ सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। पा० २ सू० ४२

() कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। पा० सू० ४३

स्वाध्याय से इष्ट देवता + अर्थात् जिस विषय का अध्ययन किया जाता है उस का ज्ञान हो जाता है *

१७ ईश्वरप्रणिधान] 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ ईश्वर की परमभक्ति है। ईश्वर में अपने सब कर्म और चेष्टाओं को अर्पण कर देना, अर्थात् उस की भावना करते हुये सब काम करना। ईश्वरप्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वरप्रणिधान के अनन्तर ही समाधि सिद्ध हो जाती है क्ष किन्तु समाधि की योग्यता होती है।

१८ व्रत की दृढ़ता] जब एक बार मनुष्य यम नियमों के पालन करने का व्रत करले तब उसे अपने व्रत पर दृढ़ रहना चाहिये। अवसर आते हैं जबकि सांसारिक लालच उसे व्रत से हटाने के लिये घोररूप से यत्न करते हैं, वे उसका योगासन हिलाने लगते हैं, एक ओर योग का रास्ता है दूसरी ओर संसारिक विषय हैं, बस देवासुर संग्राम होने लगता है। ऐसे योग के विरोधी विचार जो मन में ज़ोर के साथ उठते हैं उन्हें योग में वितर्क कहा गया है। इन वितर्कों से बचने के लिये प्रतिपक्ष अर्थात् उससे उलटे रूप में दृढ़ भावना करे () जिस समय मैं इसको अवश्य मारूंगा, इसने मेरा अनुपकार

+ स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। पा० २ सू० ४४

* देवता शब्द का अर्थ विषय है जैसे कि वेद मन्त्रों के देवताओं से उन मन्त्रों का विषय है।

क्ष समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। पा० २ सू० ४५

() वितर्कबाधनेप्रतिपक्षभावनम्। योग पा० २ सू० ३३

किया है या इस अवसर पर मुझे झूंठ बोलना ही होगा इस प्रकार के वितर्क (उलटे विचार उठने लगें उस समय प्रतिपक्ष अर्थात् इनके विरुद्ध विचार करना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि संसार के घोर दुखों में तड़फते हुये मैंने योग-मार्ग पकड़ा अब यदि मैं फिर सांसारिक भोगों को स्वीकार करूं तो यह थूके हुये को चाटने के बराबर है, क्योंकि जिस वस्तु का मैंने त्याग कर दिया उसे मैं कैसे फिर ग्रहण कर सकता हूं। इस प्रकार अहिंसा आदि यम नियमों का जो व्रत उसने किया है उस पर दृढ़ रहे।

१९ यम नियम निषेधरूप हैं) बहुतसे लेखकों ने यम नियमों की समानता धर्म के दस लक्षण धृति आदि से की है। पांच यम और नियम मिलकर दस होते हैं और धर्म के लक्षण भी दस ही हैं। इतना ही नहीं यहूदी मत की धर्म सम्बन्धी दस आज्ञायें (Ten Commandments) भी इससे मिलते जुलते हैं। इस प्रकार यम नियमों को आचारशास्त्र का विधान समझा जा सकता है। परन्तु यहां एक अत्यन्त आवश्यक बात ध्यान देने योग्य है। आचारशास्त्र के दस नियम आज्ञाओं में अथवा मनु के दस लक्षण मुख्यतया विधानरूप में (Positive) हैं। परन्तु योग में बतलाये यम नियम मुख्यतया 'निषेधरूप' (Negative) समझने चाहिये। यद्यपि दोनों का स्वरूप एक सा ही है और दोनों ही में कुछ बातें विधानरूप और कुछ निषेधरूप मिली हुई हैं, जैसे 'सत्य' दोनों जगह यम नियमों में और धर्म के लक्षणों में विधानरूप ही प्रतीत होता है क्योंकि उसमें

'सत्य बोलने' का विधान है—परन्तु 'अहिंसा' दोनों जगह निषेधरूप प्रतीत होती है क्यों उसमें 'हिंसा न करना ऐसा निषेधरूप है। किन्तु फिर भी सूक्ष्म विचार करने से पता चलता है कि धर्मशास्त्र में 'विधान' पर अधिक ज़ोर है क्योंकि वह आचार के सम्बन्ध में कुछ करना सिखाता है। परन्तु योग के यम नियमों में 'निषेध' पर ही अधिक ज़ोर है क्योंकि वह हमें सांसारिक बातों का त्याग सिखाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्र में 'अहिंसा' भी दूसरों का उपकार आदि करने के रूप में 'विधान' का रूप ग्रहण कर लेती है और यम नियमों में 'सत्य' भी निषेधरूप समझना चाहिये क्योंकि उसमें 'झूंठ न बोलना' ही मुख्य तात्पर्य है। इसी प्रकार अन्य दस यम नियमों को भी 'निषेधरूप' मुख्य मानकर समझना चाहिये।

२० यम नियमों का योग से सम्बन्ध] ऊपर की निषेध रूप यम नियमों की व्याख्या से यह पता चल जाता है कि यम नियमों का योग से क्या सम्बन्ध है? योग में हमारा प्रकृति से सम्बन्ध छूटता है उसके लिये यह आवश्यक है कि जिन संसारिक विषयों में हम फंसे हुये हैं उनसे हमारा सम्बन्ध ढीला हो। हिंसा, मिथ्याभाषण, चोरी आदि जो यम नियमों के उलटे रूप हैं वे संसार में हमें अधिकतर फंसाने वालेहैं। परन्तु हिंसा न करने और झूंठ न बोलने आदि से हमारा सांसारिक बन्धन ढीला होता है क्योंकि हिंसादि न करने से विषयों में राग कम हो जाता है। इस प्रकार जो प्रकृति से बन्धन छोड़ना चाहता है उसके लिये पहिली सीढ़ी

यही है कि वह यम नियमों का पालन कर प्राकृतिक विषयों के बन्धनों को ढीला करे, तभी वह इस योग्य हो सकता है कि बुद्धि से भी विषयों को निकाल सके।

२१ आसन) योग के आठ अङ्गों में पहिले दो अङ्ग यम नियम और तीसरा अङ्ग आसन है। महर्षि पतञ्जलि ने आसन का लक्षण किया है :—

स्थिरसुखमासनम्। साधन पा० सू० ४६

अर्थात् जिस में मनुष्य स्थिर निश्चल हो सके और जो सुखदायक स्थिति हो ; प्रयोजन यह है कि जिस में निश्चल अवस्था हो। क्योंकि यदि शरीर या कोई भी अवयव चलायमान अवस्था में होगा तो ठीक ध्यान नहीं हो सकता। शरीर की स्थिति सुखदायक होनी चाहिये क्योंकि यदि उस प्रकार बैठने में कोई कष्ट होगा तो भी ध्यान में बाधा पड़ेगी, ध्यान के लिये वही आसन ठीक हो सकता है जिसमें शरीर पर बहुत कम ज़ोर पड़े। खड़े होने में हमें शरीर के धारण करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिये खड़े हुये उतना अच्छा विचार नहीं होता जितना कि बैठकर। परन्तु बैठने में कुछ न कुछ प्रयत्न करना ही पड़ता है। इसलिये जब मनुष्य किसी गहरे विचार में डूब जाता है अथवा किसी मनो-विकार का उद्वेग खड़ा होता है उस समय मनुष्य किसी के सहारे पड़ जाते हैं क्योंकि उस दशा में शरीर धारण करने में कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिये जब गहरा ध्यान लगाना पड़ता है तब यह आवश्यक है कि शरीर धारण करने का प्रयत्न कम से कम

करना पड़े इसलिये आसन सिद्ध करने के विषय में महर्षि पतञ्जलि कहते हैं :—

प्रयत्न-शैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। पा० २ सू० ४७

प्रयत्नशैथिल्य से अभिप्राय शरीर धारण करने में जो प्रयत्न उसे ढीला कर देने से है, अर्थात् ठीक आसन वह है जिसमें शरीर धारण करने में प्रयत्न न करना पड़े 'अनन्त समापत्ति' का अर्थ यह किया गया है कि अनन्त नाम है सर्प का उसके आसन में समापत्ति अर्थात् ध्यान; मतलब यह हुआ कि जिस प्रकार सर्प अपने शरीर को ढीला छोड़कर बैठता है इसी प्रकार योगी का आसन होना चाहिये।

यहां सन्देह स्वाभाविक रीति पर उठता है कि लेटने में सब से कम प्रयत्न शरीर धारण का करना पड़ता है फिर लेट कर ही क्यों न ध्यान लगाया जावे? इसका उत्तर यही है कि लेटने में निद्रा आने का डर है इसलिये निद्रारूप वृत्ति के आघेरने से ध्यान विगड़ जायगा। आसन वह है जो सुखदायक होने के साथ स्थिर बना रहे। इसलिये ध्यान लगाने के पहिले ध्यान-योग्य आसन का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि जब तक आसन ठीक न होगा ध्यान में लगातार बाधायें पड़ती रहेंगी। कोई भी वाह्यअसर ध्यान को अस्त व्यस्त कर देगा। परन्तु जब आसन सिद्ध हो जाता है तब :—

'ततो द्वन्द्वानभिघातः' योग पा० २ सू० ४८

अर्थात् उस दशा में सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्व अपना प्रभाव नहीं डाल सकते, इसप्रकार स्थिर ध्यान बना रहता है। आसन के प्रभाव से सरदी गरमी का कुछ असर नहीं

पड़ता, इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामी दयानन्द के विषय में कहा जाता है कि वे घोर शीत ऋतु में गङ्गा की रेती में लंगोटी बांधे हुये समाधि लगाते थे। स्वामी रामतीर्थ पहाड़ की बर्फमय चोटियों पर ध्यान लगाया करते थे। यहां हम कुछ आसनों का वर्णन देते हैं:—

२२ आसन के कुछ भेद] पद्मासन—बाईं जंघा पर सीधा पैर और सीधी जंघा पर बांया पैर रख के, सीधे हाथ को पीठ के पीछे से करके बांई जंघा पर रक्खे। दाहिने पैर के अंगूठे को उससे पकड़ कर तथा इसी भांति बांये हाथ को पीठ के पीछे से करके दाहिनी जंघा पर रक्खे बांये पैर के अंगूठे को पकड़कर तथा छाती से चार अंगुल ऊपर ठोड़ी को रखकर नाक के अग्रभाग की ओर देखने की अवस्था में पद्मासन होता है।

वीरासन—जब एक पैर भूमि पर रक्खा जावे और दूसरा पैर सिकोड़े हुये घुटनेपर हो, उसे वीरासन कहते हैं।

भद्रासन—दोनों पैरों के तलों को मूत्रेन्द्रिय के नीचे के स्थान पर करके जब बैठा जाता है तब वह भद्रासन है।

स्वस्तिक—दाहिने पैर को जब बांयी जंघा और जानु के बीच और बांये पैर को दाहिनी जंघा और जानु के बीच रक्खा जाता है तब वह स्वस्तिक आसन है। साधारणतया यही आसन ध्यानादि में काम में लाया जाता है।

हठयोग में और भी सैकड़ों प्रकार के आसन बतलाये गये हैं। जब यह आसन भली प्रकार सिद्ध हो जावें अर्थात् जब इनके लगाने का इतना अभ्यास हो जावे कि उन

आसनों के लगाने में न तो कोई कष्ट हो और न कोई प्रयत्न करना पड़े तभी ठीक ज्ञान हो सकता है।

प्राणायाम—आसन के पश्चात् योग का चौथा अङ्ग प्राणायाम है। जब आसन ठीक हो जाता है तब प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम का साधारण शब्दार्थ प्राण—शरीर वायु, आयाम-विस्तार अर्थात् शरीर वायु को नियमपूर्वक अन्दर बाहर करके उसकी शक्ति को बढ़ाना। योग का गहरा सम्बन्ध प्राणायाम से है। यहां प्रारम्भ में ही यह संदेह उठता है कि साँस को अन्दर रोकना और बाहर निकालना आदि प्राणायाम की क्रियायें शरीर सम्बन्धी हैं उनका योग अथवा ध्यान जो कि एक मानसिक क्रिया है उससे क्या सम्बन्ध हो सकता है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिये मनोविज्ञान के एक सिद्धान्त की व्याख्या आवश्यक है।

आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने इस बात को अच्छी तरह स्थापित किया है कि शरीर और मन का गहरा सम्बन्ध है। हमारे मानसिक विचार बहुधा शारीरिक अवस्था पर निर्भर होते हैं। यदि एक मनुष्य बीमार है तो उसके लिये यह कठिन होगा कि वह प्रसन्न बना रहे, क्योंकि शरीर मन पर प्रभाव डालता है। बहुधा शारीरिक कमज़ोरी और बीमारी के कारण मनुष्य चिड़चिड़ा और क्रोधी बन जाता है। इसीप्रकार मानसिक अवस्थायें भी शरीर पर गहरा प्रभाव डालती हैं। एक मनुष्य प्रत्येक समय चिन्ताओं में डूबा रहता है इसका

असर उसके शरीर पर भी निश्चय से पड़ेगा। इस प्रकार शरीर और मन एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं।

हमारे मन को दिमाग के द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है। सारे शरीर में हमारी त्वचा के प्रत्येक हिस्से में हरएक इन्द्रिय में ज्ञानतन्तु फैले हुये हैं; यह बहुत पतले तथा पीले रंग के हैं। शरीर का कोई ऐसा हिस्सा नहीं है जहां यह ज्ञान तन्तु न पहुंचे हों। बाह्यपदार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध होते ही इन ज्ञान तन्तुओं पर असर होता है और यह उस असर को दिमाग तक पहुंचा देते हैं तब मन को ज्ञान होता है। पैर में कांटा चुभता है कांटे का असर पैर की त्वचा तक आये हुये ज्ञानतन्तुओं में होता है और फिर वह दिमाग तक पहुंचता है। त्वचा के अतिरिक्त आंख कान आदि ज्ञानेन्द्रियों के भी पृथक् २ ज्ञान तन्तु हैं जिनके द्वारा दिमाग को उन २ इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञानतन्तुओं के तार सारे शरीर में फैले हुये हैं। इस सारे ज्ञानतन्तुओं के समुदाय को ज्ञानतन्तुसंस्थान या 'वातमण्डल' (Nervous system) कहते हैं। इस का नाम 'वातमण्डल' इसलिये है कि ज्ञानतन्तुओं का कार्य वात अर्थात् प्राण, अपान आदि भिन्न२ वायुओं पर निर्भर है। वैद्यक शास्त्र के वात पित्त और कफ में से वात का सँबंध ज्ञानतन्तुसंस्थान से ही है। इसलिये 'उन्माद' पागलपन आदि के रोग जिनका प्रभाव ज्ञानतन्तु या दिमाग पर होता है वातरोग कहलाते हैं।

इस प्रकार हमने यह देख लिया कि हम अपने ज्ञान में शरीर पर निर्भर हैं। शरीर के जिस भाग पर निर्भर हैं वह

'ज्ञानतन्तुसंस्थान' है और उसका सम्बन्ध वायु से है। ध्यान या समाधि के लिये अथवा व्यापक शब्दों में अपनी ज्ञानक्रिया को अपने आधीन वश में करने के लिये हमारा ज्ञानतन्तुओं पर विशेष अधिकार होना चाहिये और वह कार्य 'प्राणायाम' द्वारा होता है। क्यों कि ज्ञानतन्तुओं का कार्य ही 'प्राण' पर निर्भर है। जब प्राणायाम के अभ्यास से हमारा प्राणों पर पूरा अधिकार हो जायगा तो हमारा सारा ज्ञानतन्तुसंस्थान या वातमण्डल हमारे वश में होगा और इस प्रकार हमारी ज्ञानक्रिया अधिकतर हमारे वश में होगी और हमें 'ध्यान' एकत्रित करने में अधिक सुभीता होगा।

प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं जिन से भिन्न २ ज्ञानवाहिनी नाड़ियों को वश में किया जाता है। प्राणायाम के अनेक प्रकारों का वर्णन हठयोग में है। प्राणायाम का किसी गुरू से सीख कर ही अभ्यास करना चाहिये। बिना सीखे करने से बहुत अधिक हानि होने की संभावना है।

२४ प्राणायाम का लक्षण) यहां प्राणायाम की विशेष विस्तृत व्याख्या करने की आवश्यकता इसलिये नहीं कि वह अभ्यासी गुरु से ही सीखना चाहिये। उसका लक्षण और कुछ भेद दिग्दर्शनमात्र लिखे जायँगे। प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार है:—

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

पातञ्जल योग पा० २ सू० ४९

आसन सिद्ध होने पर श्वास (अन्दर को सांस लेना) और प्रश्वास (बाहर सांस निकालना) की गति का विच्छे

होना रुक जाना प्राणायाम है। मोटे शब्दों में साँस लेने और बाहर निकालने की क्रिया का रोक देना 'प्राणायाम' है।

२५ प्राणायाम के प्रकार) प्राणायाम के प्रसिद्ध चार प्रकार हैं। १ रेचक, २ पूरक, ३ स्तम्भवृत्ति, ४ कुम्भक (वैसे तो अनेक भेद हठयोग में प्रसिद्ध हैं)

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घ-सूक्ष्मः ॥ योग साधन पाद सू० ५० ।

(१) रेचक— बाह्यवृत्ति वाला प्राणायाम रेचक। इसमें वेग से सांस को बाहर निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोकना होता है। रेचक 'प्रश्वास पूर्वक है, प्रश्वास अर्थात् बाहर को सांस निकालना इसके पूर्व में है।

(२)पूरक — आभ्यन्तरवृत्ति वाला प्राणायाम 'पूरक' कहाता है। इसमें वेग से वायु को अन्दर खींच कर अन्दर ही यथाशक्ति रोकना होता है। पूरक 'श्वास पूर्वक' है अर्थात् अन्दर को सांस लेना इसके पहिले है।

(३) स्तम्भवृत्ति—इसमें वायु को एक साथ जहाँ का तहां प्राण रोक दिया जाता है, न वायु को अन्दर लेने की चेष्टा और न उसे बाहर निकलने देना प्रत्युत जहां का तहां रोक देना इसका रूप है।

(४) बाह्याभ्यन्तराक्षेपी — बाह्य और आभ्यन्तर श्वास (अर्थात् जब बाहर निकले और जब अन्दर जाने लगे) दोनों के विरुद्ध प्रयत्न करने से अर्थात् जब बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध प्रयत्न अन्दर लेने के लिये करे और जब अन्दर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर धक्का देना।

२६ प्राणायाम का फल] प्राणायाम करने से इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं। अन्धकार का पर्दा हट जाता है। मनु महाराज ने बतलाया है कि जिस प्रकार आग में रख कर फूंकने से सुवर्णादि धातुओं का मैल दूर हो जाता है इसीप्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के मल दूर हो जाते हैं।

२७ प्रत्याहार) प्राणायाम के पश्चात् योग का पांचवाँ अङ्ग 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार का साधारण तात्पर्य 'इन्द्रियों पर विजय' है। जब प्राणायाम द्वारा हमारा ज्ञानतन्तुसंस्थान वश में हो जाता है तभी इन्द्रियां भी वश में आसकती हैं; नेत्रइन्द्रिय को वश में करने के लिये नेत्रेन्द्रिय की ज्ञानतन्तु (Optic Nerve) वश में होनी चाहिये। प्रत्याहार का लक्षण योग में इस प्रकार किया है:—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ साधन पा० सू० ५४।

जब इन्द्रियां अपने २ विषयों की ओर न दौड़ें और अन्तः-करण के स्वरूप के अनुसार हो जावें, अर्थात् अन्तःकरण की सर्वथा वशवर्त्ती हो, स्वतः इधर उधर विषयों में न दौड़ें उस अवस्था का नाम प्रत्याहार है। यह अवस्था तब ही संभव है जब कि प्राणायाम के द्वारा सारे ज्ञानतन्तुसंस्थान को वश में कर लिया जावे-इसके बिना इन्द्रियाँ अपने २ विषयों की ओर अवश्य दौड़ेंगी।

सप्तम परिच्छेद

तीन अन्तरङ्गसाधन

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग] अभी तक हमने योग के बहिरंग अर्थात् बाहरी साधनों की व्याख्या की है। वे साधन बहिरंग इसलिये हैं कि बाह्यशरीर और इन्द्रिय को योग के योग्य बनाते हैं। एक परीक्षण के करने में जिस प्रकार सब यन्त्रों को पहिले सुसज्जित कर के फिर परीक्षण किया जाता है इसी प्रकार योगरूपक्रिया में पहिले हम शरीर और इन्द्रिय को योग के अनुकूल बनाते हैं। शरीर का मन से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिये योग आरंभ करने से पूर्व शरीर को योग के अनुकूल बनाना आवश्यक है और इसलिये पहिले पांच बहिरंग साधनों का उपदेश है। यम नियमों के द्वारा हम अपने शरीर को सांसारिक विषयों के बन्धन से ढीला करते हैं और आसन से हम ध्यान के लिये बैठना सीखते हैं जिससे गरमी सरदी आदि विघ्न हमारे ध्यान को न बिगाड़ सकें, प्राणायाम से अपने ज्ञानतन्तुओं पर अधिकार कर प्रत्याहार में हम इन्द्रियों को सर्वथा अपना वशवर्त्ती बना लेते हैं और इस प्रकार योग के पांच बाहरी साधनों से सम्पन्न होते हैं। अभी तक हमने असली योग में एक पैर भी नहीं रक्खा है प्रत्युत योग करनेकी तैयारी का है और जब इतनी तैयारी होजावे

तभी योग का आरंभ हो सकता है। वास्तविक योग साधन योग के तीन अन्तरंग साधनों में बताया गया है।

२ धारणा] साधारणतया योग ध्यान या समाधि है। उसका पहिला रूप 'धारणा' अर्थात् किसी एक विषय में चित्त को लगाना है। यह योग का छठा अंग है। अन्तरंग तीन साधनों में प्रथम है। योग में कहा है :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। योग पा० ३ सू० १

किसी देश विशेष में चित्त को लगाना धारणा है। धारणा के लिये कोई भी देश निश्चित किया जासकता है आधुनिक *मैस्मिरेज़िम के अभ्यास करने वाले इस धारणा के लिये श्वेत*-पटल पर काला बिन्दु बनाते हैं। फिर उसमें ध्यान लगाने का अभ्यास करते हैं। योगी लोग धारणा के लिये नासिका का अग्रभाग, नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्द्धा (शिर में) रहने वाली ज्योति आदि बतलाते हैं। इनमें से साधारण व्यक्ति के लिये नासिका का अग्रभाग ही बहुत उचित प्रतीत होता है क्योंकि नाभिचक्र आदि का अनुभव बहुत से योग साधनों के पश्चात् होता है और तभी उनमें ध्यान लगाया जा सकता है। [ऐसे योगी कहीं २ अब भी पाये जाते हैं जो नाभिचक्र बेधन, हृदय कमल और मूर्द्धा में रहने वाले प्रकाश का अनुभव साधन द्वारा कराते हैं] किसी कागज़ पर काले बिन्दु पर ध्यान लगाने की अपेक्षा नासिका के अगले भाग पर ध्यान लगाना ही अधिक उत्तम और सरल भी है क्योंकि इसमें किसी बाह्यसाधन की आवश्यकता न पड़ेगी जिस समय भी चित्तवृत्ति अनुकूल जान पड़े धारणा का अभ्यास हो सकता है।

३ ध्यान] धारणा से अगली अवस्था 'ध्यान' है। यह योग का सातवां अंग है। ध्यान का अर्थ है :—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। योग पा० ३ सू० २

जिस विषय में चित्त की धारणा की है उसमें 'प्रत्यय' उस विषय के बोध का लगातार एकसा बना रहना 'ध्यान' है। इस को बहुत कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

जब हम एक वस्तु में मन लगाते हैं, तब वह ध्यान कठिनता से एक दो सेकण्ड तक रह सकता है। यदि फिर भी चित्त उसी विषय पर लगाये रहें तो वह 'विषय'(वस्तु) भिन्न२ रूपों में हमारे सामने आने लगती है। उदाहरण के लिये यदि हम अपना ध्यान एक 'नारंगी' में लगायें तो थोड़ी देर तक हमारा ध्यान उसके रंग पर रहेगा, फिर उसकी गोलाई पर, फिर उस के अन्दर के गढ्ढों पर जाने लगेगा। इसप्रकार यद्यपि ध्यान का विषय एक ही रहा परन्तु अनेक रूपों में ध्यान करने के कारण उसे एकसा ध्यान नहीं कहा जा सकता-वह बदलता हुआ ध्यान है। आवश्यकता यह है कि हम अपने ध्येय विषय पर उसके एक ही रूप में ध्यान करें, यह बहुत कठिन कार्य है। एक वस्तु के भिन्न २ रूपों (गुणों) को लेकर हम उसपर ध्यान जमाये रह सकते हैं। परन्तु उसके एक ही रूप पर ध्यान जमाना बहुत कठिन है। इसमें घोर रूप से मानसिक प्रयत्न करना पड़ता है। इसी को 'एकतान' अर्थात् एकसा रहने वाला ध्यान कहते हैं।

जिस प्रकार हमारा शरीर किसी बहुत कठिन मेहनत से थक जाता है उसी प्रकार एकतान = एकरस, किसी वस्तु में

उसके एकसे रूपमें ध्यान लगाने से हमारा मनबहुत अधिक थक जाता है। कुछ सेकन्डों में ही उस का घोररूप में व्यायाम हो जाता है। आज कल के पश्चिमीय मनोविज्ञानशास्त्री तो एक ही रूप से किसी चीज़ में कुछ सेकन्डों से अधिक ध्यान लगाने को असंभव बतलाते हैं। साधारणतया लौकिकभाषा में ध्यान इसी को कहा जाता है कि 'एक विषय पर उस के भिन्न २ गुणों द्वारा विचार करना'। ऐसा ध्यान साधारण रीति पर संभव है। परन्तु योग के अनुसार ध्येय विषय में जो ध्यान लगानाहै वह ध्येय विषय में उसके एक ही रूप में (एक-तान) ध्यान लगाना है। आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान इसे संभव नहीं मानता + साधारण अवस्था में इस प्रकार का 'एकतान ध्यान' संभव भी नहीं है परन्तु पांचों बहिरंग साधन के कर लेने पर यह योगमार्ग के पथिक की वह अवस्था आ जाती है जब कि वह 'एकतान ध्यान' कर सकता है। मनो-विज्ञान जो कुछ कहता है वह एक साधारण मनुष्य के लिये ठीक है परन्तु योग साधन करने से योगी की मानसिक शक्ति बहुत उच्च हो जाती है योगी के लिये 'एकतान ध्यान' लगाना सम्भव है।

+प्रसिद्ध मनोविज्ञान शास्त्री विलियम जेम्स ने ध्यानके विषय में उपर्युक्त सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है:—

There is no such thing as voluntary attention sustained for more than a few seconds at a time. What is called sustained voluntary

४ समाधि] 'ध्यान' के पश्चात् योग का अन्तिम और आठवां अङ्ग समाधि है। यह अन्तरङ्ग साधनों में भी तृतीय और अन्तिम है। वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही वस्तु की अगली अवस्था का नाम है। योग में बतलाया है :—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

योग पा० ३ सू० ३

यही ध्यान जब इस अवस्था को पहुँच जावे कि केवल ध्येय विषय के रूप भासित हो, स्वतः ध्यान का भी बोध न रहे अर्थात् मैं अमुक वस्तु का ध्यान कर रहा हूं इत्यादि, किन्तु केवल 'ध्येय' की प्रतीति हो और सब कुछ भूल जावे उस अवस्था को समाधि कहते हैं। जब यह समाधि उत्कृष्ट अवस्था को पहुंचती है तब ध्याता अपने को भी भूल कर स्वयं भी ध्येय रूप ग्रहण कर लेता है सिवाय अपने ध्येय विषय के

---

attention is a repetition of successive efforts which bring back the topic to the mind.........

During all this time, however, note that it is rot an identical object in the psychological sense, but a succession of mutually related objects forming an identical topic only, upon which the atention is fixed. No one possibly attend continuously to an *object that does not change.*

W. James Text book of Psychology. '19, 224, 225,

इस सारे उदाहरण का मतलब यह है कि 'लगातार ध्यान एक दो सेकिंड से अधिक कदापि नहीं होता। जिसे हम 'लगातार ध्यान' करते हैं उसका मतलब यही है कि हम बार

उसे कुछ बोध नहीं रहता * इस समाधि की क्रमशः ऊंची और ऊंची अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। ज्यों २ ध्यान करने वाला ध्येय विषय में अधिक और अधिक लीन होता जाता है त्यों २ समाधि की ऊंची अवस्था होती है। यहां तक कि वह बिलकुल तदाकार होकर अपने को भी भूल जाता है।

अब हम योग की आठवीं अर्थात् सब से ऊंची श्रेणी पर पहुंच गये हैं। तनिक इस अवस्था पर विचार करना आवश्यक है। एक समय था कि योगी (जो कि समाधि की अव-

---

बार प्रयत्न करके उसी वस्तु को कई रूपों में मन में लाते हैं। इस सारे समय में केवल की 'एक ही विषय एक रूप' में नहीं रहता किन्तु हमारा ध्येय कई रूपों में बदलता रहता है—अथवा यों कहिये कि हमारे ध्येय बदलते रहते हैं। जिनका 'विषय एक ही होता है। इस लिये उसे हम 'एक विषय का-ध्यान' समझते हैं। कोई मनुष्य एक विषय पर ध्यान नहीं लगा सकता जो कि 'बदलता' न हो। अर्थात् ध्यान लगाने में हमारा 'ध्येय' भिन्न रूपों में बदल २ कर हमारे सामने आता है अन्यथा उसके एक ही रूप में ध्यान लगाना संभव नहीं।

जिसको जेम्स साधारण अवस्था में संभव नहीं बतलाता उसी प्रकार का 'ध्यान' योग में अभिप्रेत है। जो कि पांच बहिरङ्ग साधनादि के द्वारा संभव हो जाता है।

* मनोविज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार की समाधि—की अवस्था मानने में एक कठिनाई उपस्थित होती है। हमें प्रत्येक

स्था तक पहुंचा है) संसार के सारे विषयों में फंसा हुआ था उसके अन्तःकरण को सांसारिक विषयों की वृत्तियें घेरे हुयी थीं। वह हज़ार यत्न करने पर भी संसार के विषयों से बच नहीं सकता था, एक वृत्तिके हटनेपर दूसरी वृत्ति आघेरती थी। वह संसार के विषयों में लिपटा हुआ था, फंसा हुआ था-बंधा हुआ था। वह योग-मार्ग का पथिक बना। उसने वैराग्य धारण कर संसार के विषयों से ममता छोड़ दी। परन्तु फिर भी इसके अन्तःकरण को विषय घेरे ही रहे। उसने इन विषयों की वृत्तियों के अन्तःकरण से हटाने के लिये योग के

पदार्थ का ज्ञान 'यह घर है' इत्यादि वाक्य के रूप में होता है-न्याय के शब्दों में—प्रत्येक ज्ञान विशेषणविशेष्यबुद्धिपूर्वक होता है। पश्चिमीय तर्क के शब्दों में हमारा ज्ञान मानसिक वाक्यरूप (in the form of a Judgment)होता है इसके अतिरिक्त मैं घर।को जाता हूं यह बुद्धि भी साथ होती है. (इसे पहिले भी स्पष्ट किया जाचुका है) योगी को समाधि की उत्कृष्ट अवस्था में यह दोनों बातें नहीं रहतीं। ध्येय विषय की प्रतीति इस प्रकार नहीं होती है कि यह ध्येय पदार्थ है किन्तु विशेषणविशेष्यभाव रहित केवल ध्येय पदार्थ ही प्रतीत होता है। 'मैं ध्येय पदार्थ को जानता हूं' यह भी प्रतीति नहीं होती किन्तु योगी अपने को भूल जाता है—ध्येय पदार्थाकार के अतिरिक्त कुछ भासित नहीं होता। इसलिये यह ध्यान 'साधारण प्रत्यक्ष' से भिन्न है किन्तु यह ध्यान—योगि—प्रत्यक्ष कहाता है। इसमें विशेषणविशेष्यभाव अथवा अनुव्यवसाय नहीं होता।

पांचों वहिरङ्ग साधनों को किया। इसके पश्चात् एक 'विषय' पर धारण कर बाकी सब वृत्तियों को हटाया। एक पदार्थ में ध्यान लगने से और वृत्तियें हट गईं। यहाँ तक कि वह एक मात्र अपने ध्येय को छोड़कर सब कुछ भूल गया, सारे सांसारिक विषयों की वृत्तियें हट गईं। उसने एक पदार्थ (ध्येय) को सहारा (आलम्बन) बनाकर सारी वृत्तियों को रोकलिया। अब उसके अन्तःकरण केवल एक वृत्ति—इस ध्येय पदार्थ की शप है इस वृत्ति के साथ अज्ञान; रागद्वेष नहीं मिले हुये हैं, इसलिये यह वृत्ति सर्वथा सात्विक है। केवल यह एक ध्येय पदार्थ की वृत्ति है जो उसे संसार से जोड़े हुये हैं, जो कि उसके अन्तःकरण में विद्यमान है।

असम्प्रज्ञात समाधि] जब तक ध्येय विषय का वृत्ति बाकी है, वह सम्प्रज्ञात समाधि है क्योंकि इसमें 'ध्येय' विषय का ज्ञान बना ही रहता है—यह 'सबीज समाधि' है क्योंकि इसमें ध्येय विषयरूप बीज विद्यमान है। सावलम्बन समाधि है क्योंकि इस में चित्तवृत्तियों को रोकने में आलम्बन या सहारा ध्येय विषय है। चित्तवृत्तियों का पूरा निरोध तबहै जबकि यह ध्येय विषय की वृत्ति भीदूर हो जावे अन्तःकरण में कोई विषय न रहे वह स्वच्छ निर्मल हो जावे। और जब अन्तःकरण में कोई विषय न रहेगा, तब पुरुष में कोई प्रतिविम्ब न होने से वह भी अपने रूप में आ जायगा। (इसे पहिले स्पष्ट किया जा चुका है। यह असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है यह 'पर-वैराग्य' से उत्पन्न होती है। पर-वैराग्य का अर्थ यह है कि योगी सम्प्रज्ञात समाधि में जो उसके अन्तःकरण को उत्कृष्ट

सात्विक अवस्था है इससे भी विरक्त हो जाता है। वह उस एक मात्र ध्येय विषय को भी अन्तःकरण से हटा देता है। जब अन्तःकरण में कोई भी विषय न रहे, अन्तःकरण शुद्ध हो वह अवस्था 'असम्प्रज्ञात समाधि' की है। इसको निर्बीज समाधि' कहा गया है क्योंकि इस अवस्था में अन्तःकरण में बीजरूप कोई ध्येय विषय नहीं रहता। इसी अवस्था को 'निरावलम्बन समाधि' कहा गया है क्योंकि इस अवस्था में चित्त वृत्तियों के रोकने में किसी ध्येय विषय का 'सहारा' नहीं होता है। जब वृत्तियों के अभाव से अन्तःकरण स्वच्छ होता है तब आत्मा अपने यथार्थ रूप में होता है, क्योंकि अन्तःकरण में किसी बाह्यविषय की वृत्ति के न होने से आत्मा में भी कोई प्रतिबिम्ब नहीं होता। यह असम्प्रज्ञात समाधि मनुष्य के जीवन की सर्वोच्च अवस्था है। यह सम्भव नहीं कि हम उस अवस्था का किन्हीं शब्दों में वर्णन कर सकें।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।

उस अवस्था में जो आनन्द होता है, वह किसी प्रकार वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता।

६ असम्प्रज्ञात समाधि और मनोविज्ञान] हमने पहिले ही देख लिया है कि योग में हमारे मन की असाधारण और उच्च अवस्था होती है। उस दशा में सामान्य मानसिक जीवन सम्बन्धी मनोविज्ञान के सिद्धान्त लागू नहीं हो सकते। असम्प्रज्ञात समाधि के विषय में मनोविज्ञान एक बड़ी टेढ़ी

समस्या उपस्थित करता है। वह अवस्था जिस में हमें किसी विषय का भी ज्ञान न हो, कोई भी अन्तःकरण की वृत्ति न हो—अर्थात् अन्तःकरण सर्वथा खाली (Blank Consci-ousness) हो, आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि में 'असंभव' है। मनोविज्ञान कहता है कि विना किसी विषयके अन्तःकरण का अस्तित्व ही न होगा। यह असम्भव है कि हमारे अन्तः—करण में एक भी वृत्ति न रहे।

इस प्रकार मनोविज्ञान की दृष्टि में योग की असम्प्रज्ञात अवस्था संभव नहीं है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान से यदि पूछा जावे कि 'निद्रा' क्या वस्तु है? क्यों कि निद्रा में विना किसी विषय के भी अन्तःकरण बना रहता है। इस के उत्तर में मनोविज्ञान को कुछ भी नहीं कह सकता। निद्रा का स्वरूप क्या है-निद्रा में मानसिक अवस्था होती है इस विषयमें मनो-विज्ञान शास्त्र अब तक अन्धकार में ही हैं परन्तु योगियों ने समाधि की उपमा यदि किसी मानसिक वृत्ति से दी है तो वह निद्रा से ही है। और निद्रा के विषय में पश्चिमीय मनोविज्ञान को कुछ पता नहीं है इसलिये 'मनोविज्ञान' समाधि के विषय में न कुछ जान सकता है और न कुछ कह सकता है। यदि विना किसी विषय के निद्रा में अन्तःकरण का अस्तित्व हो सकता है तब समाधि में भी सम्भव है। जब तक आधुनिक मनोविज्ञान निद्रा के स्वरूप को न समझे उसे समाधि के विषय में कुछ बोध नहीं हो सकता।

७ जीवनमुक्त] मनुष्य जीवन की अन्तिम और सर्वोच्च अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि की है। उस समय वह शरीर में

रहता हुआ भी प्रकृति से बिलकुल अलग है। प्रकृति के सारे बन्धन वह काट चुका अन्तिम ध्येय विषय जिसके सहारे उसने चित्त वृत्तियों का निरोध किया था, वह भी उसने चित्त से हटा दिया। उसका अन्तःकरण स्वच्छ है—उसकी आत्मा अपने स्वरूप में है। शरीर में रहते हुये भी उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीर उसके साथ इस तरह जुड़ा हुआ है जैसे सांप के शरीर पर कैंचुली होती है जो कि कुछ दिन में अपने आप छूट जाती है। इस अवस्था को जीवनमुक्त कहते हैं। इस दशा में योगी जीता हुआ भी एक प्रकार से मुक्त होता है

८ कैवल्य] कैवल्य, निःश्रेयस, परमपद, अपवर्ग मोक्ष और मुक्ति यह सब पर्यायशब्द हैं। जब असम्प्रज्ञात समाधि को सिद्ध किये हुये योगी का शरीर छूट जाता है, तब उसका मोक्ष हो जाता है, वह जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है, उसका किसी दूसरी योनि में पुनर्जन्म नहीं होता।

मरणोपरान्त दो ही गति होती हैं। या तो किसी योनि में दूसरा जन्म लेना या जन्म मरण के चक्र से छूट कर मोक्ष पाना। जब तक मनुष्य के अन्दर शुभ और अशुभ कर्मों की वासनायें हैं उसका तदनुसार सुखयुक्त और दुःखयुक्त जन्म होता रहता है परन्तु जब योगाभ्यास के कारण वह सारी वासनायें नष्ट कर देता है तब इसकी मोक्ष हो जाती है। वासनायें अगले जन्मरूप फल के लिये बीज के समान हैं। जिस प्रकार जले हुये बीज से फिर फल उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार योगाग्नि से वासनाओं के दग्ध हो जाने पर फिर अगला जन्म नहीं किन्तु आत्मा जन्ममरण के चक्र से छूट

जाती है। जीवन्मुक्ति की अवस्था से मोक्ष का भेद केवल यह है कि जीवन्मुक्त अवस्था में जब कभी योगी असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में होता है तभी उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है अर्थात् वह अपने रूप में होता है परन्तु मोक्ष में सदैव आत्मा अपने रूप में रहता है। मोक्ष के विषय में योग में बतलाया है:—

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः।
कैवल्य प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥

योगी मनुष्यों के लिये गुण, सत्व, रजस् और तमस् जिनसे अन्तःकरण बना है बिना प्रयोजन हो जाते हैं। उनका उद्देश्य संसार और अपवर्ग (मोक्ष) पूरे होजाते हैं तब उनका अपने कारण प्रकृति मय लय हो जाता है। अर्थात् मनुष्य का अन्तःकरण और सूक्ष्म शरीर जो जन्म जन्म में उसके साथ रहता है लय होकर प्रकृति में मिल जाता है अर्थात् सब वासनाओं के नष्ट होने से उसकी आवश्यकता नहीं रहती। और आत्मा अपने स्वरूप में होता है। इस अवस्था को 'कैवल्य' (केवल पन अर्थात् आत्मा का बुद्धि शरीरादि से छूट कर अपने स्वरूप में अकेलापन) कहते हैं। यह कैवल्य या मोक्ष ही मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य है जिसे मनुष्य योग द्वारा प्राप्त करता है।

९ अन्तिम शब्द] हम ने देखा कि योग की प्रणाली किस प्रकार हमारी वर्त्तमान सांसारिक जीवन का अवस्था से उठाती हुयी क्रमशः अध्यात्मिक जगत् को तक पहुंचाती है। यह विधि क्रियात्मक और व्यवहारिक है और नियमित तथा

क्रमिक है, बुद्धिपूर्वक और वैज्ञानिक है। हम क्रमशः एक २ पग आगे बढ़ाते हैं एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते जाते हैं ऐन्द्रियिक जगत् दृश्यमान संसार में हम लोग जकड़े हैं। इस संसार से परे अव्यक्त और आध्यात्मिक जगत् की अनिर्वचनीय और आत्मिक तत्व की भावना मनुष्य की बुद्धि करती है वह इस तक पहुंचना चाहती है उससे मिलना चाहती है पर उसके ऐसे दिव्य उड़ाने वाले पर (पंख) कहां हैं जो उसे इस जगत् से उड़ा कर अदृश्य जगत् में पहुंचा दें वह बिचारा इस जगत् की परिधि के भीतर तड़पता है और उससे बाहर नहीं निकल सकता। उसका अलौकिक दिव्य उपाय योग हमारे सामने रखता है, जो कि बिलकुल क्रमपूर्ण है अर्थात् क्रमशः ऊंचा उठाता जाता है। संसार के सब धर्मों में व्याप्त है और प्रत्येक मज़हब में आत्मिक तत्व के साक्षात्कार करने के लिये मनुष्य के हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न होती है किन्तु उसका उपाय क्या है? कहीं सुनिश्चित स्पष्ट उपाय आप को न मिलेगा। केवल धर्माचरण आदि सामान्य बाह्य उपाय बतलाये हैं। यह सौभाग्य केवल भारत के ऋषियों को प्राप्त हुआ कि उनने युगयुगान्तरों सांसारिक ऐश्वर्यों का परित्याग कर अपने जीवन को भगवान के अर्पण कर आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करने का मार्ग ढूंढ निकाला।

इस समय भी पाश्चात्य देशों में ऐन्द्रियिक संसार से परे आत्मिक विषयों के साक्षात्कार की चर्चा सुनाई देती है। एक ओर भूतप्रेत वादी (Spiritualist) हैं जो काष्ठ के यन्त्र प्लैंश्चेट आदि द्वारा मरी हुयी आत्माओं को बुलाकर आत्मिक

बातों का पता चलाना चाहते हैं। पर क्या इन बाह्यउपायों से, बाह्ययन्त्रों के परीक्षणों से आत्मिक ज्ञान हो सकता है? कदापि नहीं। उसका उपाय तो आन्तरिक परीक्षण था जिसे योग के रूप में ऋषियों ने समझा।

दूसरी ओर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक बर्गसन् प्रभृति हैं जो ऐन्द्रियिक ज्ञान और सांसारिक बुद्धि की सीमा से परे अदृश्य आत्मिक विषयों का ज्ञान मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि (Intuition) से बतलाते हैं। पर यह 'Intuition' क्या वस्तु है और इस से किस प्रकार आत्मिक ज्ञान होगा इसे वे अब तक स्पष्ट न कर सके। यदि इस 'Intuition' के बदले बर्गसन को 'योग' के तत्व को समझ सकते तो उनकी सारी दार्शनिक पहेली हल हो जाती।

इस प्रकार मानव बुद्धि का चरम विकास सब से बड़ा आविष्कार, जिस से आकाश में उड़ने से बढ़ कर चन्द्र और तारों में पहुंचने से भी बढ़ कर भौतिक जगत् से परे आत्मिक जगत् में पहुंच सकता है, यदि कोई है तो वह 'योग' है यह मनुष्य के विकाश की पराकाष्ठा है।